अग्निपुराण में काव्य शास्त्रीय तत्व

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी की संस्कृत
पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

2008

शोध-निर्देशक

डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी
विभागाध्यक्ष संस्कृत
महामति प्राणनाथ महाविद्यालय
मऊ-चित्रकूट

प्रस्तुतकर्त्री

निशा कुमारी
एम० ए०

शोध केन्द्र

अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज अतर्रा - बाँदा

अग्निपुराण

में

काव्यशास्त्रीय

तत्व

शोध निर्देशक
डा0 मुरली मनोहर द्विवेदी
रीडर, महामति प्राणनाथ महाविद्यालय
मऊ, चित्रकूट

शोधकर्त्री
निशा कुमारी
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,झांसी

विषय अनुक्रमणिका

क्र0सं0	अध्याय	पृष्ठ संख्या
1.	अध्याय प्रथम– काव्य के लक्षण	1–25
	1– काव्य के लक्षण	
	2– काव्य भेद	
	क– गद्य	
	ख– पद्य	
	3– महाकाव्य के लक्षण	
2.	अध्याय द्वितीय– नाटक निरूपण	26–52
	1– नाटक प्रकरण आदि के भेद	
	2– नाट्य लक्षण	
	3– नटी विदूषक आदि पात्रों का कथन	
	4– सिद्धोत्प्रेक्षादि के भेद	
	5– स्त्रियों के लीला विलास का वर्णन	
	6– रस आदि के विनियोग का लक्षण	
3.	अध्याय तृतीय– अलंङ्कार	53–109
	1– शब्दालङ्कार	
	क– अनुप्रास आदि अलंङ्कारों का कथन	
	ख–चक्रबन्ध आदि का निरूपण	
	ग– गोमूत्रादि बन्धों का कथन	
	2– अर्थालङ्कार	
	क– सादृश्य आदि अलंङ्कारों का निरूपण	
	3– शब्दार्थालङ्कार	
	क– प्रशस्ति इत्यादि छः भेदों का कथन	
	ख– उनके लक्षणों का निरूपण	
4.	अध्याय चतुर्थ– काव्य के गुण	110–136
	1– शब्द गुण का कथन	

क– गुण लक्षण

ख– प्रसादि गुणों का लक्षण

2– द्रक्षा एवं नारिकेल गुणों का वर्णन

3– रीति निरूपण

4– वृत्ति निरूपण

5. अध्याय पंचम– काव्य के दोष 137–166

1– पद दोष

2– वाक्य दोष

3– अर्थ दोष

4– रस दोष

5– छान्दसत्व अविस्पृष्टत्व आदि दोषों का कथन

6. अध्याय षष्ठ– अग्निपुराण में काव्यशास्त्र का महत्व 167–177

क– उपसंहार

7. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

APPENDIX-4

CERTIFICATE OF THE SUPERVISOR

(PARA 12 C)

CERTIFICATE

This is to certify that the work entitled "Agni Puran Mein Kavya Shastra"is a piece of research work done by Smt. Nisha Kumari under my own guidance and supervision for the Degree of Doctorate Of Philosophy in Sanskrit of Bundelkhand University Jhansi(India).The candidate has put in an attendance of more than 200 days with me.

To the best of my knowledge and belief the thesis-
(1) Embodies the work of the candidate herself.
(2) has duly been completed.
(3) Fulfills the requirements of the ordinance relating to the Ph.D Degree of the University,and
(4) Is up to the standerd both in respect of contents and language for being referred to the examiner.

Signature of the Supervisior

(Dr. Murli Manohar Dwivedi)

APPENDIX-3

DECLARATION THE BY CANDIDATE

(PART 12 B)

I declare that the thesis entiteled "Agni Puran Mein Kavya Shastra" is my own work conducted under the supervision of Dr.Murli Manohar Dwivedi at Mahamati Pran Nath Mahavidyalaya Mau,Chitrakoot affiliated to Bundelkhand University,Jhansi from the centre Post Graduate College, Atarra] Banda approved by Research Degree Committee.I have put it more than 200 days of the attendance with the Supervisior at the centre.

I further declare that to the best of my knowledge the thesis dose not contain any part of any work, which has been submitted for the award of any degree either in this University or in any other University/Deemed University without proposition.

Signature of the Supervisior *Signature of the Condidate*
(Dr.MurliManoharDwivedi) *(Nisha Kumari)*

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्व है। भारतीय वांङ्मय में पुराणों की व्यापकता एवं महत्ता असंदिग्ध है। भारत के अतीत कालीन धर्म और संस्कृति के मूर्तिमान गौरव के प्रतीक हैं। इन पुराणों को भारतीय ज्ञान कोष कहा जाता है। इन भारतीय पुराणों में धर्म, संस्कृति और परम्पराओं का विस्तृत वर्णन है। आज की बौद्धिकता भी पुराणों के प्रभाव और महत्व को रंच मात्र भी कम नहीं कर पायी है। इस समय भी उनके प्रति वही श्रद्धा और सम्मान का भाव दृष्टिगोचर है। जैसे सुदूर अतीत में था। अट्ठारह पुराण हिन्दू धर्म के आधार हैं। जो इस प्रकार हैं–

(1) ब्रह्म पुराण (2) पद्म पुराण (3) विष्णु पुराण (4) शिव पुराण (5) श्री मद्भागवत पुराण (6) वायु पुराण (7) पारद पुराण (8) अग्नि पुराण (9) ब्रह्म वैवर्त पुराण (10) वाराह पुराण (11) स्कन्द पुराण (12) मार्कण्डेय पुराण (13) वामन पुराण (14) कूर्म पुराण (15) मत्स्य पुराण (16) गरुण पुराण (17) ब्रह्माण्ड पुराण (18) भवष्यि पुराण

इनके अतिरिक्त अट्ठारह उप पुराण भी हैं और कुछ अन्य पुराण भी उपलब्ध होते हैं। कुछ पुराण क्षेत्रीय हैं।

जैसे– केदार खण्ड, मानस खण्ड आदि। इनका विकास विभिन्न क्षेत्रों और धार्मिक परम्पराओं में होते होते संख्या में वृद्धि होती गयी। अट्ठारह पुराण हुए उसके बाद अट्ठारह उप पुराण माने गये उसके पश्चात् अट्ठारह औपपुराण भी रचे गये। अट्ठारह पुराणों को महापुराण भी कहा जाता है। एक पारम्परिक श्लोक में अट्ठारह पुराण इस प्रकार गिनाये गये हैं।

''मद्वयं भद्वयं चैव ब्रतयं बचतुष्टयम् अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक पृथक''

(अर्थात् दो पुराणों के नाम मकार से आरम्भ होते हैं– मत्स्य और मार्कण्डेय, दो के भकार से आरम्भ होते हैं– भविष्य तथा भागवत, तीन के नाम ब्र से आरम्भ

होते हैं– ब्रह्माण्ड, ब्रह्म, ब्रह्मावैवर्त, चार के नाम में आद्याक्षर व है– वामन, विष्णु, वाराह, वायु। अ से अग्नि, ना से नारद, प से पद्म, लिङ् से लिंङ्ग, ग से गरुण, कू से कूर्म और स्क से स्कन्द। इस प्रकार ये श्लोक में अट्ठीरह पुराणों का वर्णन किया गया है।)

अग्निपुराण का महत्व– पुराणों में अष्टादश पुराणों (जो कभी कभी महापुराण भी कहलाते हैं।) जो सूची हमने उपर्युक्त दी है। उनमें अग्नि या आग्नेय नाम अवश्य मिलता है। जिसमें अग्निपुराण की प्रचीनता का पता चलता है। अग्नि नामक देव इस पुराण के वक्ता हैं। अट्ठारह पुराणों में अग्निपुराण का विशिष्ट महत्व है। इस पुराण में विविध विधाओं का संकलन किया गया है। धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख इसमें मिलता है। अग्निपुराण में अनेक शास्त्रों का वर्णन है। जिस पुराण में अग्नि ने वशिष्ठ को ईशानकल्प का वृत्तान्त कहा है वह आग्नेय पुराण है। इस पुराण में व्याकरण, औषधि, विज्ञान, कोष, काव्यशास्त्र, ज्योतिष आदि शास्त्रों के सम्बन्ध में पुष्कल आदि शास्त्रों का महत्व है।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार किया है। डा0 बलदेव उपाध्याय और विन्टरनिट्ज के अनुसार, यह पुराण एक विश्व कोष है। अग्निपुराण के 337 से 347 तक के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्रीय विवेचन किया गया है।

पुराणों का सामान्य अर्थ प्रचीन है। वैदिक संहिताओं में भी पुराणों का महत्व देखने को मिलता है। अथर्ववेद में भी कहा जा चुका है कि वैदिक संहिताओं के साथ ही पुराणों की अनादिकाल से उत्पत्ति हो चुकी थी।

"ऋचः सामानि छन्दासि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।।"

पुराण का निरुक्तकार यास्क ने यह लक्षण दिया है– "**पुरा नवं भवति**" अर्थात् जो प्रचीन काल में नया था। प्राचीन होते हुए भी जो परम्पराएँ नये युग में सार्थक बनी रहें, उनका संग्रह पुराण है।

मधुसूदन सरस्वती भी सृष्टि के इतिहास को पुराण मानते हैं। पुराणों ने वेदों की व्याख्या दार्शनिक धरातल पर भी की है। अतः यह पारम्परिक मान्यता सर्वथा सटीक है कि वेदों को समझने के लिये पुराणों का अध्ययन परम आवश्यक है।

प्राचीनकाल में हर प्रकार के साहित्य के प्रकाशन एवं प्रसारण की एक ही पद्धति रही है और उस पद्धति में साहित्य को सुरक्षित रखने का दायित्व धर्मप्राण राजाओं, श्रेष्टियों, मनीषियों एवं ऋषियों आदि विशिष्ट व्यक्तियों पर ही था, किन्तु इस युग में यह उत्तरदायित्व हम सभी लोगों पर है।

अग्निपुराण में उल्लिखित पूर्वाचार्य एवं प्रचीन ग्रन्थ अग्निपुराण में विविध विषयों की विवेचना के सन्दर्भ में प्राचीन काल के अनेक आचार्यों एवं ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। छन्द के सम्बन्ध में पिंगल, गजशास्त्र के सम्बन्ध में पालकाव्य, अश्वविद्या के सम्बन्ध में शालिहोत्र, आयुर्वेद के सम्बन्ध में धनवन्तरि और सुश्रुत, रामायण और हरिवंश का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त 380 वें अध्याय में 58 श्लोकों में श्रीमद्‌भगवत का संक्षिप्त विवरण मिलता है। इन आचार्यों और ग्रन्थों के नामोल्लेख से इतना निश्चित है कि ये आचार्य अग्निपुराण की रचना के समय तक परमख्याति को प्रप्त कर चुके थे, और उनका मत उस समय तक अत्यन्त मान्य हो चुका था। इससे उन प्राचीन आचार्यों के साथ– साथ अग्निपुराण की प्राचीनता का स्पष्ट बोध होता है।

(1) **अग्निपुराण और स्मृति साहित्य–** मत्स्य, वायु, ब्राह्मण, अग्निपुराण में भी स्मृतिकालीन सामग्री प्राप्त होती है, अग्निपुराण में राजधर्म निरुपण के अवसर पर 252–257 तक छः अध्यायों में व्यवहारों का निरूपण किया गया है। इसमें से 30 श्लोक याज्ञवल्क्य स्मृति से मिलते जुलते हैं किन्तु इनमें से

कौन सा ग्रन्थ किस ग्रन्थ का ऋणी है? निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता है यदि परम्परा के अनुसार यह मान लिया जाय कि दोनों का उद्देश्य जन जन में धर्म का प्रचार करना था, तो दोनों के विषय में समानता हो सकती है और दोनों समकालीन सिद्ध हो सकते हैं।

(2) **अग्निपुराण और अमरकोश**– अग्निपुराण के 259 से 366 अध्यायों में शब्दकोश का निरूपण है, जो अमरकोश से तादात्म्य रखता है– काणे महोदय ने इस सादृश्य के आधार पर अग्निपुराण को अमरकोश का ऋणी बताया है।[1] किन्तु काणे महोदय का तर्क दुर्बल एवं प्रमाणहीन प्रतीत होता है। क्योकि अमर सिंह ने अमरकोश के प्रारम्भ में स्वयं लिखा है कि मैने अन्य तन्त्रों से संग्रह कर जथा वहॉ पर वर्णित संक्षिप्त विषय का विस्तृत प्रति संस्कार कर नामलिंङ्गानुशासन को कहता हूॅ।

समाहृत्यान्यतन्त्राणि संङ्क्षिप्तैः प्रति संस्कृतैः।
सम्पूर्ण मुच्यते वर्गैनमलिङ्गानुशासनम्।।[2]

तो अमरकोश के पुर्व कौन से अन्यतन्त्र थे, जिससे ग्रहण कर अमर सिंह ने प्रति संस्कार किया था? इस पर काणे महोदय कुछ भी नहीं कहते । हमारे विचार से अमर सिंह का संकेत संकेत अग्निपुराण की ओर रहा होगा, क्योंकि इसके पूर्व कोई अन्य तन्त्र ऐसा नहीं मिलता है, जिससे अमरकोश की हो अतः हम अग्निपुराण को ही अन्य तन्त्र क्यों न मान लें जिससे अमर सिंह ने ग्रहण अमरकोश का प्रतिसंस्कार किया हो इस बात की पुष्टि ललिता सह सनाम के इस इद्धरण में होती है कि अमरकोश ने अग्निपुराण का अनुसरण किया–

'अमरसिंहःखलुअग्निपुराणमनुसृतवान्'।[3]

भास्कराचार्यः–**केयूरमङ्गददोर्भूषेत्यग्निपुराणं तु भुजभूषणत्वमेव अनुगमकथनपरम्।**

तदनुसारित्वात् अमरसिंहोऽपि तत्पर एवेत्यदोषः।।

(1) अमरकोश 1/1/2

(2) ललिता सहस्रनाम भाष्य 35

(3) अग्निपुराण 1/13

(3) **अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र–** भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में नाट्यशास्त्रीय विषयों का विस्तृत विवेचन है। अग्निपुराण में वर्णित नाट्य विषय नाट्यशास्त्र से साम्य रखता है। इसी समानता को देखकर काव्यादर्श के लेखक महेश्वर ने यह प्रतिपादित किया कि भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु काव्य की प्रवृत्ति के द्वारा अलंङ्कार शास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए अकग्नपुराण से उद्धत कर अलंङ्कार शास्त्र का प्रणयन किया।

सुकुमारन् राजकुमारन् स्वादुकाव्यप्रवृत्ति द्वारा अलंङ्कार शास्त्रे प्रर्वत्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्यं काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कार शास्त्रंकारिकाभिः सङ्क्षिप्य भरतमुनिः प्रणीत्वान।।

इसी परम्परा के पोषक सिल्वालेवी ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ अग्निपुराण से ली गयी हैं। भरत ने अग्निपुराण को अपना उपजीव्य मानकर नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यास कृत अग्निपुराण के ही काव्यशास्त्र विषयक वे अध्याय होंगे जिससे लेकर भरत ने नाट्य संग्रह बनाया। अग्निपुराण का यह वैशिष्ट्य भी बतलाया गया कि इसमें समस्त विद्याओं का सार है।

''विद्यासारं पुराणं यत् सर्वं सर्वस्यकारणम्''

अतः यह निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अग्निपुराण से यह अंश उद्धत किया गया है, बल्कि यही सिद्ध होता है कि इन दोनों ग्रन्थकारों ने किसी अन्य भरत के द्वारा प्रयुक्त भारती वृत्ति का उल्लेख किया है, जिसे आदिभरत या वृद्धभरत के नाम से सम्बोधित किया जाता है। नाट्यशास्त्र में पुराण का नाम आया है इसके अतिरिक्त कुछ और ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि भरत ने अग्निपुराण

का अनुसरण किया है किन्तु यहॉ हम परम्परागत मत को ही स्वीकार करते हैं कि अग्निपुराण नाट्यशास्त्र के बाद का है।

(4) **अग्निपुराण और भामह**— अग्निपुराण में रूपक, आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्ति और प्रशंसा ये पॉचो ध्वनिमूलक अलंड्कार माने गये हैं। ये भामह के काव्यालंड्कार में प्रतिपादित लक्षणों से ज्यों के त्यों मिलते हैं—

रूपक— उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य कथ्यते।

गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।।

अग्निपुराण 344/227

उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते।

गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।।

काव्यालंड्कार 2/21

आक्षेप— प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विषेषोऽभिधित्सया।

तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र..।।

अग्निपुराण 345/15

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विषेषोऽभिधित्सया।

आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं च यत्।।

काव्यालंड्कार 2/78

समासोक्ति— यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समान विषेषणम्।

सा समासोक्तिरुदिता सङ्क्षेपार्थतया तथा।।

अग्निपुराण 345/17

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समान विषेषणः।

सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सङ्क्षेपार्थतया यथा।।

काव्यालंड्कार 3/8

पर्यायोक्त– पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।।

अग्निपुराण 345/18

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।।

काव्यालंङ्कार 3/8

अप्रस्तुत प्रशंसा– अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।

अग्निपुराण 345/16

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुत प्रशंसा सा..।।

काव्यालंङ्कार 3/9

इस आधार पर कवि महोदय अग्निपुराण को भामह के बाद की रचना मानते हैं और अग्निपुराण में प्रतिपादित उपर्युक्त पॉचों अलंङ्कारों को भामह से लिया गया बतलाते हैं। किन्तु उनका यह कथन युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है। रूपक का लक्षण अग्निपुराण और काव्यालंङ्कार में एक सा मिलता है किन्तु भामह के रूपक का लक्षण अन्य से लिया गया प्रतीत होता है। जैसा कि भामह ने स्वयं कहा है–

अनुप्रासः समयको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंङ्काराः पंचैवान्यैरुदाहृताः।।[1]

जब दोनों ग्रन्थकारों का रूपक का लक्षण एक समान है और भामह ने रूपक का लक्षण अन्य से लिया है तथा अग्निपुराण से अतिरिक्त अन्य किसी से भामह का रूपक लक्षण नहीं मिलता है। अग्निपुराण में अनुप्रास अलंङ्कार का विस्तृत विवेचन किया गया है।

---

(1) काव्यालंङ्कार 2/4
काव्यालंङ्कार 1/10

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि भामह ने अग्निपुराण से प्रेरणा लेकर उक्त अलंङ्कारों का विवेचन किया होगा और उन्होंने अग्निपुराण का उल्लेख न करके 'अन्यैः' के द्वारा इसकी ओर संङ्केत किया हो क्योंकि उन्होंने मेधाविन्, राम शर्मा आदि आचार्यों का नामोल्लेख न करना केवल व्यक्तिगत रागद्वेष कहा जा सकता है भामह काव्यालंङ्कार के प्रारम्भ में यह प्रतिज्ञा करते हैं कि अन्य विद्वानों के शास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन कर काव्य प्रणयन में प्रवृत होना चाहिए।

विलोक्यान्यनिबन्धांष्च कार्यः काव्यक्रियादरः।।

इससे भी सिद्ध होता है कि उन्होने अलंङ्कारों को अन्य ग्रन्थों से संग्रहीत किया है। भामह लक्षण और स्वयंकृत उदाहरणों के द्वारा अलंकारों का विवेचन करते हैं, जबकि अग्निपुराण में केवल लक्षण मात्र दिए गए हैं। यदि अग्निपुराण का आधार भामह का काव्यालंङ्कार होता तो वे अलंङ्कारों के उदाहरण को क्यों नहीं प्रस्तुत करते? इससे यह सिद्ध होता है कि भामह के काव्यालंङ्कार के पूर्व अग्निपुराण अवश्य विद्यमान था जिसकी छाया काव्यालंङ्कार पर लक्षित होती है।

(5) **अग्निपुराण और आनन्दवर्द्धन–** अग्निपुराणकार ने पर्यायोक्त, अपह्नुति समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और आक्षेप इन पॉचों अलंङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस आधार पर काणे महोदय अग्निपुराण में निरूपित ध्वनि को ध्वन्यालोक से प्रभावित मानते हैं। किन्तु काणे महोदय का यह कथन तथ्यहीन प्रतीत होता है, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में स्वयं इन अलंङ्कारों की ध्वन्यात्मकता का खण्डन किया है, यदि अग्निपुराण का आधार ध्वन्यालोक होता तो अग्निपुराणकार इन अलंकारों को ध्वनि के रूप में मान्यता क्यों देते? इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि ध्वनिकार ने अग्निपुराण में निर्दिष्ट उपर्युक्त पॉचो अलंङ्कारों की ध्वन्यात्मकता का खण्डन किया है। यही नही बल्कि ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में अग्निपुराण से दो श्लोक भी ज्यों के

त्यों उद्धृत किये हैं। इन दोनों श्लोकों के पूर्व ध्वनिकार ने **'तथा चदेमुच्यते'** यह लिखा है इससे सिद्ध होता है कि ध्वनिकार ने इन दोनों श्लोकों को अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है और यह ग्रन्थ अग्निपुराण ही हो सकता है, क्योंकि अग्निपुराण में ही ये दोनों श्लोक मिलते हैं।

(6) **अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण–** डा0 विष्णु कुमार दे विष्णुधर्मोत्तर पुराण का समय 400 ई0 के पश्चात् और 500 ई0 के पूर्व मानते हैं। किन्तु काणे महोदय विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचना काल 575–650 ई0 मानते हैं। इसमें डा0 दे का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने अनेक आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचना काल नाट्यशास्त्र के बाद और भट्टि, भामह तथा दण्डी से पूर्व 400 ई0 के बाद एवं 500 ई0 के पूर्व निर्धारित किया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा अग्निपुराण दोनों पौराणिक ग्रन्थ हैं, और दोनों की विश्वकोश के रूप में मान्यता है, किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण एक उपपुराण है जबकि अग्निपुराण की महापुराणों में गणना है। इससे अग्निपुराण की श्रेष्ठता एवं ज्येष्ठता सिद्ध होती है।

(7) **अग्निपुराण और अन्य शास्त्रीयग्रन्थ–** भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में स्पष्टरूप से अग्निपुराण का उल्लेख नही किया है, किन्तु इनके द्वारा विवेचित विषयों को अपने ग्रन्थ का आधार अवश्य बनाया है। सरस्वती कण्ठाभरण में बहुत से विषय अग्निपुराण से लिए गए हैं, और उनकी विवेचन शैली अग्निपुराण जैसी है। अभिनव गुप्त 11 वीं शताब्दी में अपने ध्वन्यालोक लोचन में अग्निपुराण से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है–

अभिधेयेन सारूप्यात् समीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मता।।[1]

---

(1) अग्निपुराण 3/45–11–12 तथा ध्वन्यालोक लोचन – प्रथम उद्योत

अल्बेरूनी (ग्यारहवीं शताब्दी) की 'अल्बेरूनी का भारत'[1] नामक पुस्तक में पुराणों की सूची दी हुई है जिसमें अग्निपुराण का उल्लेख है। गौणाधिप बल्लालसेन (बारहवीं शताब्दी) ने अद्भुतसागर में अग्निपुराण का उल्लेख किया है। शारदातनय (तेरहवीं शताब्दी) ने अपने भावप्रकाशन नामक ग्रन्थ में अग्निपुराण के मतों के विवेचन के साथ–साथ अग्निपुराणकार व्यास का नामोल्लेख भी किया है। विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में अग्निपुराण का बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है।

काव्यस्योपादेयत्वमग्नि पुराणेप्युक्तम्।।[2]

इन विवरणों से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि अग्निपुराण का अस्तित्व ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व अवश्य विद्यमान था।

अग्निपुराण के अन्तरंग प्रमाणों पर यदि हम विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि अग्निपुराण में भाषा की दृष्टि से काव्य दो प्रकार के बताये गए हैं– संस्कृत और प्राकृत। अपभ्रंश को अग्निपुराण में काव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। भामह अपभ्रंश को काव्य का तीसरा भेद स्वीकार करते हैं। अपभ्रंश का उदय लगभग छठी शताब्दी माना जाता है। अतः स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दी के पूर्व अग्निपुराण का अन्तिम संस्करण हो चुका था। स्थूल दृष्टि में यदि अग्निपुराण में आए हुए विषयों की ओर दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट होता है कि अग्निपुराण एक वैष्णव पुराण है। इसलिए सर्गश्च इस अनुक्रम को छोड़कर इसमें विष्णु के दशावतारों विशेषकर रामावतार एवं कृष्णावतार का प्रारम्भ में ही वर्णन किया गया है। यद्यपि कुछ अन्य पुराण भी वैष्णव पुराण माने जाते हैं किन्तु उन सभी पुराणों का संस्करण गुप्तकाल में ही हुआ है ऐसा माना जाता है।

---

(1) अल्बेरूनी का भारत 36–37

(2) साहित्य दर्पण 4

अग्निपुराण के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इसमें आगमों का प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ा है। अग्निपुराण का तांत्रिक भाग बौद्धकाल के तांत्रिक प्रचार से साम्य रखता है। योनि पूजा आदि वामपंथ का निर्देश भी इस ग्रंथ में मिलता है। बौद्धों का उच्छेद वैदिक कर्मकाण्ड के पुनरुत्कर्ष के बाद हो गया था। यह समय पॉचवीं शताब्दी के करीब माना जाता है। अतः अग्निपुराण का अस्तित्व इससे पूर्व का सिद्ध होता है।

मनुस्मृति की अपेक्षा अग्निपुराण तथा अन्य स्मृति भागों में जो परिर्वतन दृष्टिगोचर होता है, उससे प्रतीत होता है कि उस समय की सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त नीति भ्रष्ट तथा निकृष्ट सी हो गयी थी। अग्निपुराण में प्राप्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उस समय विधवा विवाह का प्रचलन समाज में व्याप्त था और प्रतिलोम विवाह भी होता था। विधवा होने पर अथवा पति के सन्यास ले लेने पर स्त्रियॉ अन्य पुरुष के साथ विवाह कर सकती थीं। अग्निपुराण के अनुसार स्त्रियॉ सदैव पवित्र रहतीं थीं। वह जार (उपपति) के साथ संसर्ग करने पर भी दूषित नहीं होती थीं। ऐसा लगता है कि बौद्धों को हिन्दू समाज के अन्तर्भाव करने की दृष्टि से वाह्य आचरण को संस्कारित करने का प्रयत्न भी इसमें अनिवार्य रूप से किया गया होगा। यह समय गुप्तकाल के आस– पास का प्रतीत होता है। अतः गुप्तकाल में उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह मानना पड़ता है कि अग्निपुराण का प्रचलित संस्करण गुप्तकाल ही है और गुप्तकाल तृतीय शताब्दी के लगभग होना चाहिए। तभी तो भामह, दण्ड़ी आदि उससे प्रभावित हुए होंगे। अग्निपुराण का प्रक्षिप्त प्रायः प्राप्त नहीं है। भिन्न– भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में जो अन्तर पाया जाता है, उसे पाठभेद या अशुद्धिजन्य अन्तर कहा जा सकता है। यद्यपि ये पाण्डुलिपियॉ सोलहवीं शताब्दी के पहले की नहीं हैं फिर भी इन प्रतियों के विभिन्न स्थानों से प्राप्त होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है, कि ये सभी प्रतियॉ किसी एक ही प्रति से प्रतिलिपि की गयी होगी।

अतः हम यह नहीं कह सकते हैं कि इस पुराण में गुप्तकालीन अन्तिम संस्करण के बाद बहुत से प्रक्षिप्त अंशों का समावेश किया गया होगा। सुरेन्द्र नाथ दीक्षित आदि विद्वान नाट्यशास्त्र का समय तृतीय शताब्दी से पूर्व मानते हैं चूँकि अग्निपुराण के अन्तिम संस्करण का सम्पादन नाट्यशास्त्र के समकालिक या इससे कुछ बाद का होगा। अतः अग्निपुराण का समय तृतीय–चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

अग्निपुराण के लेखक– अट्ठारह पुराणों के लेखक महर्षि वेद व्यास हैं, परन्तु आधुनिक आलोचना के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि महर्षि व्यास इन पुराणों के मूल रचयिता नहीं हैं, अपितु इनका संकलन और सम्पादन इन्होने ही किया था। अतः पुराणों के मूल प्रणेता का विषय विचारणीय है। अग्निपुराण के रचयिता कौन थे, इस प्रश्न का उत्तर हमने ग्रन्थ के आरम्भ में ही दे दिया है। इन पुराण को सूत मुनि ने शौनक आदि ऋषियों को सुनाया तथा सूत ने इस विद्या को महर्षि व्यास से सीखा था और व्याास ने यह विद्या महर्षि वशिष्ठ से सीखी थी। वशिष्ठ ने यह उपदेश अग्नि से प्राप्त किया था। उपर्युक्त विवरण से यह कहना मूलरूप से ठीक होगा कि पुराण का उपदेश अग्नि ने वशिष्ठ को दिया है अतः पुराण के प्रणेता अग्निदेव हैं।

अग्निपुराण विभिन्न शताब्दियों में प्रचीन ग्रन्थों का सार है। डा0 हाजरा के पास अग्निपुराण का हस्तलेख विद्यमान है, जिसमें निबन्धकारों के अग्निपुराणीय वचन शतशः उपलब्ध है। इसी कारण इसे प्राचीन अग्निपुराण मानते हैं।

अग्निपुराण का लक्ष्य है यह वैशिष्ट्य प्रचलित विहित तांत्रिक अनुष्ठानों में कतिपय संस्कार वास्तु ज्योतिष शकुन आदि का क्रमबद्ध और व्यवस्थित प्रतिपादन है।

अग्नि नामक किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के न होने का प्रमाण नहीं मिलता है। वह एक पौराणिक देवता है। इसके लेखक के सम्बन्द्ध में यही कहा जा सकता है कि भिन्न समयों में अनेक लेखकों ने इसको लिखा और संकलित किया तथा इसका अन्तिम रूप के संकलन और सम्पादन महर्षि व्यास ने किया है।

अग्निपुराण का समय– इस पुराण के विषय में ज्ञातव्य है, कि लोक शिक्षण के लिए उपयोगी विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ हैं, जिसे हम अपनी भाषा में पौराणिक कोष भी कहते हैं। जिसका उद्देश्य समस्त विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करना है। अग्निपुराण के समय को निर्धारित न करना कठिन कार्य है। भारतीय परम्पराओं के अनुसार अग्निपुराण में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सिद्धान्त सबसे पहले लिखे गये थे। महेश्वर ने काव्यप्रकाशार्थ में लिखा है– '' भरत ने अलंङ्कार शास्त्र की सामग्री को अग्निपुराण से लिया था और इसको संक्षिप्त कारिकाओं में निबद्ध किया था। इसी प्रकार साहित्य कौमुदी की टीका में विद्याभूषण लिखते हैं, कि भरत ने अग्निपुराण आदि को देखकर संक्षिप्त कारिकाओं द्वारा साहित्य की प्रक्रिया का निबन्धन किया था। इस प्रकार अग्निपुराण का समय भरत से पहले का प्रतिपादित होता है।

परन्तु आधुनिक समालोचकों के अनुसार अग्निपुराण बहुत बाद की रचना है तथा इसका वर्तमान रूप भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, भोज के भी बाद का है। अग्निपुराण को इतना आर्वाचीन सिद्ध करने के लिए यह उक्तियॉ दी गयी हैं, अग्निपुराण के निर्माणकाल का परिचय दिया जा सकता है। अग्निपुराण भोजराज के सरस्वती कण्ठाभरण का प्रधान उपलीव्य ग्रन्थ है फलतः इसे एकादश शती से प्राचीन होना चाहिए अग्निपुराण का अपना उपजीव्य ग्रन्थ दण्डी का काव्यादर्श है। सप्तमशती से प्राक्कालीनता इस

पुराण को स्वीकार किया गया है। अतः अग्निपुराण का रचनाकाल सप्तम, नवम शती के मध्य में मानना सर्वथा समीचीन होगा।

(1) अग्निपुराण में रामायण, महाभारत, हरिवंश, पिंङ्गल, धनवन्तरि और सुश्रुत के उल्लेख हैं। इसमें शब्दकोश सम्बन्धी सामग्री भी है। इसमें भागवत् गीता को सार रूप में दिया गया है। अग्निपुराण की रचना इनके बाद की मानी जाती है। अमरकोश के रचयिता अमर सिंह का समय चौथी शताब्दी ई0 के पूर्व नहीं ले जाया जा सकता है। पुराणकारों ने पुराणों के विषयों में बड़े सुन्दर विवेचन किये हैं। जिससे उस युग की प्रवृत्ति का पूरा परिचय हमको मिलता है।

(2) अग्निपुराण में भारती वृत्ति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि भरत द्वारा प्रणीत होने से इसको भारती कहा गया है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में स्वयं यह कहा है कि इस वृत्ति का प्रणयन इन्होंने स्वयं किया है। नाट्यशास्त्र के अनेक पद्य और पद्यांश अग्निपुराण में उद्धत हैं। इससे यह पता चलता है, कि अग्निपुराण की रचना निश्चित रूप से भरत के बाद हुई है। भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ अनुपलब्ध हैं, किन्तु आचार्यों ने उनका उल्लेख किया है। अथवा कहीं–कहीं उद्धरण भी दिये हैं। जैसे–कोहल आदि।

भरत के पूर्ववर्ती आचार्य पाणिनि का विचार है कि यहॉ पर नट का अर्थ अभिनेता है। इस प्रकार पाणिनि के अधिक विकसित रूप में नाट्यकला के संकेत अवश्य मिलते हैं। यद्यपि कुछ उल्लेखों से यह विदित होता है कि भरत ने अग्निपुराण के आधार पर नाट्यशास्त्र की रचना की है। तथापि युक्ति प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है, कि अग्निपुराण का साहित्यशास्त्र सम्बन्धी बहुत बाद का है। यह नाट्यशास्त्र का आधार नहीं हो सकता है।

(3) अग्निपुराण की अनेक परिभाषाएँ भामह और दण्डी से मिलती हैं। भामह के काव्यालंङ्कार में प्रस्तुत की गयी रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुत, समासोक्ति और

पर्यायोक्ति अलंङ्कारों की परिभाषाएँ लगभग अग्निपुराण की हैं। भामह का कथन है कि इन परिभाषाओं की रचना उन्होंने स्वयं की जो परिभाषायें अग्निपुराण में दी गयी हैं। वे दण्डी के काव्यादर्श की परिभाषाओं में मिलती हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों ग्रन्थों के अनेक पद्यांश परस्पर समान हैं। अतः अग्निपुराण को भामह और दण्डी की रचना मानना चाहिये।

(4) अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग के रचयिता ध्वनि सिद्धान्त से परिचित थे। अग्निपुराण में एक स्थान पर कहा गया है, कि ध्वनि का पर्यायोक्त अपह्नुति, समासोक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा या आक्षेप अलंङ्कारों में समावेश हो जाता है। 'ध्वन्यालोक' के दो पद्य हैं।

(1) अपारे काव्यसंसारे

(2) शृङ्गारीचेत कवि

अग्निपुराण में मिलते हैं, ध्वन्यालोक के प्रसंगों से तथा उत्तरवर्ती टीकाकारों के कथन से यह प्रतीत होता है कि इन पद्यों की रचना स्वयं आनन्दवर्द्धन ने की है। अतः अग्निपुराण को आनन्दवर्द्धन के बाद की रचना मानना चाहिए।

(5) भोजकृत 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा श्रृंङ्गार प्रकाश का भी प्रभाव अग्निपुराण में पड़ा है भोज ने श्रृंङ्गार प्रकाश में रस सिद्धान्त का विवेचन किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में यह प्रतिपादित किया है, कि श्रृंङ्गार रस ही आनन्द अहंङ्कार तथा अभिमान रस है। अग्निपुराण ने इस सम्बन्ध में श्रृङ्गार रस की अभिव्यक्ति निष्पन्न प्रदर्शित की है। भोज के अनुकरण में ही अग्निपुराण में श्रृंङ्गार रस को सब रसों का मूल कहा गया है। पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी तथा लाटी, इन चार रीतियों के जो लक्षण भोज ने दिये हैं उनका अनुकरण बहुत कुछ अग्निपुराण में हुआ है। डा0 डे ने यह प्रतिपादित किया है कि अग्निपुराण के अनुकरण पर ही भोज ने अपने व्यापक रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। परन्तु काणे महोदय ने इस कथन का प्रबल खण्डन किया है।

(6) अग्निपुराण बहुत बाद की रचना है। यह तथ्य इस बात से भी सिद्ध होता है, कि काव्य शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने अग्निपुराण को प्रमाण के रूप में क्रमबद्ध उद्धत किया है। भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, भोज आदि विद्वानों द्वारा भरत को आदर के साथ–साथ उद्धत किया है। परन्तु अग्निपुराण को नहीं सबसे पहले साहित्यदर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने चौदहवीं शताब्दी पूर्व में अग्निपुराण को उद्धत किया है। अतः अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग को बहुत प्राचीन मनना युक्त संगत नहीं है। यह रचना भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन और भोज के बाद की समझनी चाहिए।

वर्तमान समय में उपलब्ध अग्निपुराण की रचना समग्र रूप से भोज के बाद अर्थात् बारहवीं शताब्दी ई0 में हुई थी। यह कथन भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है। इसलिए यहॉ निम्नांकित युक्तियॉ प्रस्तुत की जाती हैं।

(1) अग्निपुराण एक विश्वकोष के रूप में है तथा उसके अनेक विषयों का संकलन है। इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न समयों में होता रहा है। समय–समय पर इन श्लोकों की संख्या बठती रही है और घटती भी रही है। मत्स्य पुराण में पहले 35 फिर 28 और फिर 30 तथा स्कन्द पुराण में भी 1,2,47,50 के अनुसार अग्निपुराण में 16000 श्लोक होने चाहिए, परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध अग्निपुराण में 11400 श्लोक मिलते हैं। अग्निपुराण में यह भी हो सकता है कि एक से अधिक संस्करण रहे हों। 'दानसागर' और 'अद्भुत सागर' ग्रन्थों में अग्निपुराण के जो अंश उद्धत किए हैं उनका अधिकांश भाग वर्तमान समय में उपलब्ध अग्निपुराण में नहीं है।

(2) डा0 विलसन का कहना है कि अग्निपुराण की रचना संकलन एक समय में नहीं हुए हैं, यह कार्य विभिन्न समयों में हुआ है, डा0 विन्टरनिट्ज के अनुसार इस पुराण की रचना के समय को निर्धारित करना कठिन है। क्योंकि इसमें परस्पर विरोधी विचारों का संकलन किया गया है।

(3) कुछ विचार यह भी हैं कि अग्निपुराण की रचना भारत पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय हुई होगी। अग्निपुराण के एक स्थल पर लिखा है,

कि इस देश के राजा म्लेच्छ मुसलमान ही थे जिन्होंने नवीं शताब्दी में भारत पर आक्रमण किया था। अतः अग्निपुराण की रचना का समय नवम् शताब्दी ई0 निश्चित किया गया।

(4) अग्निपुराण में रीति रिवाजों तथा सामाजिक व्यवहारों का उल्लेख है। उन पर तान्त्रिक उपासना पद्धति का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। अतः इस पुराण की रचना उस समय हुई होगी। जिस समय इस देश में तान्त्रिक पूजा आरम्भ हुई होगी। तान्त्रिक पूजा का प्रारम्भ भारतवर्ष में 8वीं–9वीं शताब्दी के लगभग हुआ था। इन उक्तियों के आधार पर अग्निपुराण की रचना की सम्भावना 9वीं शताब्दी ई0 के लगभग की मानी जाती है।

ऊपर कहे गये तथ्यों से तथा तर्कों की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अभी तक अग्निपुराण की रचना के समय को निसंदिग्ध रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इस विषय पर अधिक गम्भीर अध्ययन तथा अन्वेषण की आवश्यकता है।

अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का परिचय– अग्निपुराण के 337 से 347 तक के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र के विषयों का निरूपण किया गया है। इन ग्यारह अध्यायों में 362 श्लोक हैं। अध्याय क्रम में इनकी विषय वस्तु इस प्रकार है।

अध्याय 337– इस अध्याय में सबसे पहले काव्य के महत्व, लक्षण और भेदों का वर्णन किया गया है। तदन्तर गद्य काव्य के भेदों उपभेदों का विवेचन है। इसके पश्चात् पद्य काव्य का उल्लेख करके महाकाव्य के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है। अन्त में काव्य के भेदों का संक्षेप में स्वरूप बताया गया है।

अध्याय 338– इस अध्याय में नाट्य सम्बन्धी विषयों को बताया गया है। इसमें रूपकों के दस भेदों तथा उपरूपकों का कथन किया गया है। तदन्तर नाटकीय सामग्री, प्रस्तावना, पॉच अर्थ प्रकृतियॉ, पॉच सन्धियॉ आदि

उल्लिखित हैं।अन्त में श्रेष्ठ नाटक के गुण तथा उनमें अपेक्षित देशकाल पर विचार किया जाता है।

अध्याय 339— यह अध्याय रस से सम्बन्धित है। इसमें रस स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव आदि का वर्णन करके नायक तथा नायिका के भेदों तथा उनके गुणों का वर्णन है। इसी अध्याय में अग्निपुराणकार ने कहा है कि वह पर ब्रह्म परमेश्वर अक्षय है। वह शाश्वत, अजन्मा और परिव्याप्त है। वेदान्त ग्रन्थों में उसे अद्वितीय ज्योर्तिमान और सामर्थ्यवान कहा गया है।

अध्याय 340— यह अध्याय रीतियों और वृत्तियों से सम्बन्धित है। इसमें पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी इन चार रीतियों का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी, इन चार वृत्तियों का निरूपण अग्निदेव ने किया है।

अध्याय 341— इन अध्यायों में नायिकाओं की चेष्टाओं तथा उनके हाव भावों का वर्णन किया गया है। अंङ्ग प्रत्यंङग का कर्म ही शरीराम्भ कहलाता है। इनमें चेष्टायें प्रायः नारी पात्रों में ही होती हैं। तदन्तर नृत्यकला में प्रयुक्त होने वाले अंङ्गों का वर्णन किया जाता है— हाथ, पैर, ऑख, पलक आदि के संचालन की विधि बतायी गयी है।

अध्याय 342— इस अध्याय में बताया गया है कि अभिनय के चार अंङ्ग हैं— सात्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य। इसके पश्चात् श्रृंङ्गार आदि रसों के लक्षण और भेदों का विवरण किया गया है। तदन्तर अलंङ्कार का लक्षण उसके भेद एवं कुछ शब्दालंङ्कारों का निरूपण किया गया है और अर्थालंङ्कार तथा उभयालंङ्कारों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय 343— इस अध्याय में शब्दालंङ्कार निरूपित है। इस प्रसंग में इन अलंङ्कारों का निरूपण किया गया है। अनुप्रास, यमक, उसके दस भेद, चित्रकाव्य और उसके सात भेद प्रहेलिका और उसके सोलह भेद, गोमूत्रिका,

सर्वतोभद्र, बन्ध, मुरजबन्ध, पद्यबन्ध आदि बन्धों का तथा अलंङ्कारों का निरूपण किया गया है।

अध्याय 344– इन अध्यायों का विषय अर्थालंङ्कार है। इनमें प्रमुख अलंङ्कारों का विवरण किया गया है। इसमें उपमा रूपक सहोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अलंङ्कारों का वर्णन किया गया है और इनके लक्षण और भेदों का भी वर्णन किया गया है।

अध्याय 345– इस अध्याय का मुख्य विषय शब्दार्थालंङ्कार है। ये अलंङ्कार छः प्रकार के होते हैं– प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति। इन अलंङ्कारों का निरूपण करके समाधि, आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्ति अलंङ्कारों की विवेचना की गयी है। लेखक ने यह भी प्रतिपादित किया है कि ध्वनि का समावेश इन्हीं अलंङ्कारों में किया जाता है।

अध्याय 346– यह अध्याय गुणों के विवेचन से सम्बन्धित है। इसमें गुण की परिभाषा एवं महत्व तथा भेदों का विवेचन किया गया है। अग्निपुराण में सात शब्द गुणों का और छः अर्थ गुणों और छः शब्दार्थ गुणों की विवेचना की गयी है।

अध्याय 347– यह अध्याय मुख्य रूप से दोषों की विवेचना करता है। सर्वप्रथम सात दोष बताकर प्रथम प्रकार का वक्तृदोष कवि की ओर से होता है। इसके चार भेद होते हैं। निमित्त दोष के भी दो भेद हैं– असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व। ये दोष पद के अन्तर्गत आते हैं। कवियों ने जिनका प्रयोग न किया हो। ये पॉच काव्य दोष हैं– छान्दसत्व, अविस्पष्ट, कष्टत्व, समायिकत्व तथा ग्राम्यत्व ।इन सभी दोषों का वर्णन अग्निपुराण मे किया गया है। दोषों के परिहार का उपाय भी बताया गया है।

अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का स्रोत तथा उनका उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव– पहले कहा जा चुका है कि भारतीय परम्पराओं के अनुसार भारतीय काव्यशास्त्र का मूल स्रोत अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग है। भरत ने इस ग्रन्थ से सामग्री लेकर काव्यशास्त्र के नियमों का प्रतिपादन किया है। महेश्वर लिखित काव्यादर्श तथा साहित्य कौमुदी की विद्याभूषणकृत कृष्णनन्दनी टीका से यह सिद्ध होता है कि इसके अनुसार अग्निपुराण ही भारतीय काव्यशास्त्र के मूल हैं।

परन्तु आधुनिक आलोचक इस मत को स्वीकार नहीं करते। इनका मत है कि अग्निपुराण बहुत बाद की रचना है। यह पुराण नवीं शताब्दी ई0 में या इसके भी बहुत बाद में लिखा गया है। विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का इस पर प्रभाव पड़ा है। उन ग्रन्थों में अग्निपुराण के सारे विषयों का संकलन किया गया है।

अनेक अलंङ्कारों रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, विभावना आदि का लक्षण, करके पद्य की परिभाषा करने आदि में भामह के काव्यालंङ्कार और दण्ड़ी के काव्यादर्श का अग्निपुराण पर प्रभाव पड़ा है। भोज के रस सिद्धान्त का भी अग्निपुराण पर प्रभाव है। इसमें ध्वनि का भी उल्लेख है। परन्तु दूसरे समालोचक काणे महोदय के इस बात से सहमत नहीं हैं। उनका यह कथन प्रस्तुत है–

''यह हो सकता है कि अग्निपुराण की रचना भरत के नाट्यशास्त्र के बाद हुई है। परन्तु इसका अनुवाद काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से पहले हुआ था। सेठ कन्हैया लाल पोद्दार का मत है कि दण्डी और भामह की रचनाओं का स्रोत अग्निपुराण है तथा यह ग्रन्थ भरत के बाद एवं भामह और दण्डी से पहले लिखा गया होगा।''

अग्निपुराण में अनेक सिद्धान्तों का नवीन ढ़ंग से प्रतिपादन हुआ है। इसमें कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जो दूसरे ग्रन्थों में नहीं है। गुणों और दोषों का

वर्गीकरण एवं विवेचन इस पुराण में दूसरे प्रकार से किए गए हैं। इसी प्रकार श्रृंङ्गार रस को अभिमान एवं अहंङ्कार से उत्पन्न मानना भी नवीन कल्पना भी प्रतीत होती है। भोज ने भी इस तथ्य का विस्तृत विवेचन किया है। इस अग्निपुराण में अलंङ्कार का वर्गीकरण भी नये प्रकार से किया गया है।

अग्निपुराण को उत्तरवर्ती आचार्यों आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, राजशेखर आदि ने प्रमाण के रूप में उद्धृत नहीं किया है। सबसे पहले विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी ई0) ने साहित्यदर्पण में इस पुराण ने उत्तरवर्ती काव्यशास्त्र ग्रन्थों को अधिक प्रभावित नहीं किया है। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इसको मान्यता भी अधिक नहीं दी। तथापि यदि इस पुराण को भामह और दण्डी की रचनाओं से पहले का मान लिया जाय। जैसा कि सेठ कन्हैया लाल पोद्दार का मत है कि काव्यालंङ्कार काव्यादर्श सरस्वती कण्ठाभरण श्रृंङ्गार प्रकाश आदि ग्रन्थ इससे प्रभावित हैं।

प्राक्कथन

भारतीय वाड्.मय में पुराणों की व्यापकता एवं महत्ता असंदिग्ध है और वे भारत की अतीत कालीन धर्म और संस्कृति के मूर्तिवान गौरव के प्रतीक हैं। आज की बौद्धिकता भी पुराणों के प्रभाव और उनके महत्व को रंचमात्र भी कम नही कर पायी हैं। इस समय भी उनके प्रति वही श्रद्धा और सम्मान का भाव दृष्टि गोचर होता है। जैसा सुदूर अतीत में था। कुछ पुराणपाठ के लिए यह कहकर प्रेरणा देते हैं कि 'पुराण वेद हैं' यह वही वेद हैं। 'तानुपादिशति पुराणम्' वेदः सोऽयमिति।

अग्निपुराण' पुराण क्रम में आठवां पुराण है। जिसमें अग्नि को मूल तत्व निरूपित किया गया है। मत्स्यपुराण एवं स्कन्दपुराण में अग्निपुराण के सम्बन्ध में वर्णित है कि ईशान कल्प–सम्बन्धी जो ज्ञान अग्निदेव ने वशिष्ठ जी को दिया था; उसी को अग्निपुराण में प्रमाणित किया गया है।

यज्ञदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च।
वशिष्ठायाग्निनां प्रोक्तयाग्नेयं सम्प्रकाशते।।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अग्निपुराण भारतीय ज्ञान कोश है। जिसके पौराणिक स्वरूप के कारण सृष्टि और लय, देवपितरों की वंशावली, समस्त मन्वन्तर तथा वंशानुचरित (सूर्य,चन्द्र,प्रकृति) वंशो में उत्पन्न राजाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इसमें तन्त्र, अलंकार , छन्द, ज्योतिष व्याकरण , आयुर्वेद ,राजनीति ,कोश आदि विविध विषयों का सुन्दर परिचय मिलता हैं।

भारत वर्ष के प्राचीन मनीषियों, विद्वानों और प्रेणेताओं ने काव्यशास्त्र का प्रवर्तन निरूपण जिस उज्जवल प्रतिभा, व्युत्पत्ति, परिश्रम, अभ्यास और मनोयोग से किया था, वाणी द्वारा उनका वर्णन करना, प्रशांसा करना और लिखना असम्भव ही है। काव्य के प्रत्येक अंग की विवेचना, गुणों और दोषों के

स्वरुप का कथन और सर्वांग रूप से विश्लेषण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

भरत से लेकर वर्तमान समय तक काव्यों की समीक्षा का वैज्ञानिक रूप से सुस्पष्ट विकास जिस प्रकार से भारतवर्ष में हुआ, विश्व साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। इस सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय साहित्य का सर्वेक्षण और विश्लेषण मेरी स्वल्पविषया बुद्धि द्वारा यद्यपि असम्भव सा ही है। तथापि उसका प्रयत्न करने की धृष्टता मैने की ही है। कालीदास के शब्दों में ''अज्ञानतावश छोटी नौका द्वारा दुस्तर सागर को पार करने की इच्छा कर रहा हूँ।''

संस्कृत भाषा एक समास प्रधान भाषा है, उसमें अल्पशब्दों द्वारा अमित अर्थ प्रकाशन की शक्ति है। अतः अन्य भाषा में उसका अविकल अनुवाद करते समय शब्दाध्याहार आदि का आश्रय लेना ही पड़ता है। इसी हेतु अनुवाद में कहीं–कहीं शिथिलता या अस्पष्टता की झलक मिलना भी सम्भव है।

संस्कृत विषय के अध्ययन में मेरी रुचि पहले से ही थी। मैने इण्टरमीडिएट परीक्षा कौशाम्बी इण्टर कालेज मऊ, चित्रकूट से उत्तीर्ण की। संस्कृत विषय में मेरी रुचि बढ़ती गई। अन्य विषयों की अपेक्षा मुझे सदैव संस्कृत विषय में (परीक्षाओं में) अच्छे अंक प्राप्त होते थे। संस्कार रूप में आरोपित संस्कृत भाषा पल्लवित होती रही। मैने स्नातक की परीक्षा संस्कृत विषय के साथ महामति प्राणनाथ महाविद्यालय मऊ, चित्रकूट एवं परास्नातक में अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज अतर्रा बाँदा में प्रवेश लिया तथा परास्नातक में संस्कृत विषय का चयन किया। परास्नातक पूर्वार्द्ध की कक्षाओं में विभागाध्यक्ष एवं ईष्ट मित्रों से सत्प्रेरणायें मिलती रही हैं। मुझे पी0–एच0डी0 करने की प्रेरणा मेरे ससुर श्री राम सुचित विश्वकर्मा (सहायक अध्यापक शुकदेव इण्टर कालेज खागा–फतेहपुर) से मिली। उन्होने मुझे पी0–एच0डी0 करने के लिए प्रेरित किया। परास्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद पूर्व प्रेरित भावना ने शोधकार्य करने के लिए मुझे उन्मुख किया। तब मै अपने गुरुदेव डा0 मुरली

मनोहर द्विवेदी जी से मिली और अपने निर्देशन में शोधकार्य कराने हेतु उनसे आग्रह किया। गुरुदेव ने अत्यन्त सरलभाव से मुझे "'अग्निपुराण में काव्यशास्त्र'' विषय पर शोधकार्य करने का परामर्श देकर मुझे अनुगृहीत किया। मुझे गुरुदेव के सत्प्रयास एवं उदारता का सतत् फल प्राप्त होता रहा। मुझे सहायक पुस्तकों के लिए कभी अन्यत्र नहीं जाना पड़ा। पूज्य गुरुदेव ने मुझे पुस्तकीय सहायता दी,उन्होने मेरी जटिल समस्याओं पर दृष्टिपात करते हुए मुझे कार्य करने के लिए अपना बहुमूल्य समय दिया। मध्य–मध्य में शोधकार्य में मुझे मेरे पूज्यपिताजी श्री राजेन्द्र प्रसाद विश्वकर्मा (सहायक अध्यापक कौशाम्बी इण्टर कालेज मऊ, चित्रकूट) से भी प्रेरणा मिलती रही है। शोधकार्य के मध्य में शारीरिक अस्वस्थता के कारण मेरा शोधकार्य कुछ समय के लिए प्रभवित रहा किन्तु गुरुदेव की छत्रछाया में मैने अपना शोधकार्य पूर्ण किया। यह कृति उन्हीं के आर्शीवाद का प्रतिफल है। मैं उनकी आभारी हूँ। डा0 रोहिताश्व कुमार शर्मा (प्रवक्ता एवं प्राचार्य महामति प्राणनाथ महाविद्यालय मऊ, चित्रकूट) से भी मुझे सत्प्रेरणा मिली। मेरी पूज्यनीया माताजी श्रीमती शिवाकान्ती एवं मेरे अग्रज श्री सुरेन्द्र कुमार ने भी अपनी शुभकामनाओं से मुझे वंचित नहीं रखा। वे सभी श्रद्धेय हैं। मै श्री भूपेन्द्रमणि पाण्डेय जी की भी आभारी हूँ जिन्होने मुझे शोधकार्य पूर्ण करने में सहयोग दिया।

–निशा कुमारी

अध्याय प्रथम

(विषय प्रवेश)

काव्यलक्षण

काव्य की आत्मा ध्वनि है। इसका प्रतिपादन करते हुये आचार्य आनन्दवर्द्धन ने काव्य में ध्वनि का ही आत्मतत्व किया है। यहॉ पर यह विचार करना आवश्यक है कि काव्यों में आत्मतत्व क्या है? जो सहृदयों के हृदयों को प्रभावित करता है। काव्यशास्त्र अध्ययन करने से इसके आत्मतत्व का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। जिसके बिना काव्य को काव्य नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार शरीर में आत्मतत्व सबसे प्रमुख है। क्योंकि उनके बिना शरीर में कोई भी गतिविधि नहीं हो सकती है। उसका अस्तित्व नहीं रह सकता और शरीर का सम्पूर्ण आकर्षण इसी आत्मा के कारण होता है। इसी प्रकार काव्य में भी कोई तत्व ऐसा अवश्य होना चाहिए जो आत्मस्थानीय हो।

भरत के पश्चाद्धर्ती आचार्यों नें काव्य के तत्वों का विश्लेषण करके काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्धारण किया है। अनेक शताब्दियों तक विभिन्न आचार्यों द्वारा विश्लेषण किया जाता है और खोज की जाती है कि काव्य में ऐसा कौन सा मूल तत्व है। जिसके कारण सहृदय उसके प्रति आकर्षित होते हैं और आनन्द का अनुभव करते हैं। जिन आचार्यों ने काव्य के जिस अंङ्ग में सौन्दर्य का आकर्षण अनुभव किया उसने उसी को काव्य की आत्मा कहा।

इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत है कि काव्य में सबसे प्रमुख तत्व रस है। काव्य का प्रमुख उद्‌देश्य रस का संचार करना है। जिसका आस्वादन कर सहृय जन आह्लाद का अनुभव करते हैं। अतः काव्य की आत्मा रस है। अन्य आचार्यों के अनुसार काव्य का प्रमुखतम् आकर्षक एवं आह्लादक तत्व अलंकार भी है। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ हैं। उनको अलंङ्कृत करने वाले अलंङ्कार ही काव्य की आत्मा है।

ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, वाङ्मय कहलाता है। शास्त्र, इतिहास और काव्य ये तीनों वाङ्मय के अर्न्तगत आते हैं। जिस वाक्य समूह में अलंङ्कार

स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, जो गुणो से युक्त और दोषों से मुक्त हो उसे काव्य कहते हैं।

प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने काव्य के जो लक्षण प्रस्तुत किये हैं उनमें मम्मट का लक्षण सबसे औचित्यपूर्ण उपयोगी और वैज्ञानिक प्रतीत होता हैं। इस लक्षण का केन्द्र विन्दु मान कर अन्य आचार्यों के मतों का उनके साथ तुलनात्मक विश्लेषण करना अधिक तर्क संगत होगा। आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–

'' तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृतीपुनःक्वापि।''[1]

दोषों से रहित, गुणों से विभूषित एवं कहीं अलंङ्कार से रहित होते हुए भी शब्द और अर्थ का युगल काव्य होता है।

मम्मट की दृष्टि में काव्य का शरीर शब्द अर्थ से निर्मित है। ये शब्द और अर्थ सामान्य न होकर विशिष्ट होते हैं। इनको दोषों से रहित होना चाहिए। सामान्यतः काव्य के शरीर में शब्द और अर्थ अलंङ्कारों से अलंङ्कृत होते हैं। परन्तु यदि कहीं स्फुट रूप से अलंङ्कार न प्रतीत हो तो भी वे काव्य रहते हैं। उनमें अकाव्यत्व की शंङ्का नहीं करनी चाहिए। अतः अपनी कारिका की वृत्ति में मम्मट ने लिखा है–

''क्वापित्यनेनैतदाह, यतसर्वत्र सालङ्कारौ,
क्वचितु स्फुटाङ्कार विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।''[2]

---

(1) काव्यप्रकाश 1/4

(2) काव्यप्रकाश 1/4 की वृत्ति

अन्य आचार्यों की काव्य की परिभाषाएँ

मम्मट कृत काव्य के लक्षण के साथ कुछ अन्य आचार्यों की काव्य की परिभाषाओं को यहाँ वर्णित करना समाचीन होगा–

(1) **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**

भामह– काव्यालंङ्कार 1/16

(2) **तैः शरीरं काव्यानामलंङ्काष्च दर्षिताः।**
शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।।

दण्डी– काव्यादर्श 1/10

(3) **काव्यषब्दोऽयं गुणालंङ्कार संस्कृतयोः शब्दार्थयोवर्तते।**
भक्तया तु शब्दार्थ वचन मात्रं गृह्यते।।

वामन काव्यालंङ्कार सूत्रवृत्ति 1.1.1

(4) **.........................इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।**
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोष वर्जितम्।।

अग्निपुराण 337/6–7

(5) **शब्दार्थौकाव्यम् ।।**

रुद्रट काव्यालंङ्कार 2/1

(6) **शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंङ्कारौ काव्यम्।।**

वाग्भट–काव्यानुशासन पृ0 16

(7) **अदोषौ सगुणौ सालंङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।।**

हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ0 16

(8) **सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्मेव काव्यलक्षणम्।।**

आनन्दवर्द्धन–ध्वन्यालोक 1.1 की वृत्ति

(9) **निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।**
सालङ्कार रसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यानामभाक्।।

जयदेव–चन्द्रलोक 1/7

(10) गुणालंङ्कार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।

गद्य पद्योभयमयं काव्यं काव्यविदोविदुः।।

विद्यानाथ– प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ0 42

(11) शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विवुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः।

विद्याधर–एकावली 1/13

(12) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनी।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।।

कुन्तक– वक्रोक्ति जीवित 1/1

(13) निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंङ्कारैरलङ्कृतम्।

रसक्तं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।

सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2

(14) आस्वादजीवातु पदसन्दर्भः काव्यम्।।

चण्डीदास कृत काव्यप्रकाश प्रदीपिका पृ0 13

(15) काव्यं रसादितद् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।।

शौद्धोदनि–अलंङ्कार शेखर पृ0 2

(16) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।।

विश्वनाथ साहित्यदर्पण 1/3

(17) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।।

जगन्नाथ– रसागंङ्गाधर पृ0 2

विभिन्न आचार्यों ने काव्य के जो लक्षण प्रस्तुत किए हैं। उनको तीन वर्गों में विभक्त किया है।

(1) कुछ आचार्यों ने विशिष्ट शब्दार्थ, युगल को काव्य माना है। जैसे– भामह, वामन, मम्मट आदि का अभिमत है। यह शब्दार्थ युगल विशिष्ट इस अर्थ में है कि दोष रहित, गुण सम्पन्न और अलंङ्कार विभूषित होता है।

(2) कुछ आचार्य ने केवल शब्द को विशिष्ट अर्थ से सम्पन्न माना है और काव्य को मानते हैं। दण्डी, जगन्नाथ आदि ने यही अभिमत प्रकट किए हैं।

(3) कुछ आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करने में शब्द और अर्थ को कुछ अधिक महत्व न देकर रस से सम्भृत वाक्य को काव्य कहा है। भोज, जयदेव, विश्वनाथ आदि का यही अभिमत है कि यद्यपि भिन्न–भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। किन्तु मम्मट के लक्षण की व्यापकता अन्य कवियों में नहीं मिलती है।

अग्निपुराण में अग्निदेव ने काव्य लक्षण का वर्णन करते हुये कहा है। जिस वाक्य समूह में अलंङ्कार स्पष्ट रूप से दिखाई दे तथा जो गुण से युक्त और दोषों से मुक्त हो उसे काव्य कहते हैं। काव्य का आधार वेद है। अथवा लोक, अर्थ की दृष्टि से काव्य अयोनिज है। अर्थात् स्वयं सिद्ध है।

काव्यं स्फुरदलंङ्कार गुणद्दोषवर्जितम्।

योनिर्वेदष्च लोकष्च सिद्धमर्थादयोनिजम्।।

(अग्निपुराण 337/07)

काव्य के भेद

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य के लक्षण का निरूपण करके उनके भेदों का भी वर्णन किया है और भेदों का वर्गीकरण भी किया है। इस वर्गीकरण के मुख्य रूप से दो आधार हो सकते हैं।

(1) काव्य के वाह्य रूप (विधा) के आधार पर

(2) काव्य के अर्थ के आधार पर

किन्तु यहॉ पर विद्या के आधार पर काव्यों के भेदों का वर्णन ही समीचीन है।

विद्या के आधार पर काव्यों के भेदों का वर्गीकरण काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने काव्य के स्वरूप आदि का विवेचन के साथ ही इनके विविध भेदों का वर्गीकरण किया है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में मुख्यरूप से दृश्यकाव्यों (रूपकों) का वर्गीकरण किया है। भरत के पश्चात्, भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों के ग्रन्थों में काव्य के वर्गीकरण को अधिक विशद् किया गया है। तदन्तर विश्वनाथ ने काव्यों की विभिन्न विधाओं का सुन्दर

वर्गीकरण किया है। इस स्थल पर काव्यों की विधाओं के अनुसार वर्गीकरण करने में मुख्यरूप से विश्वनाथ के साहित्यदर्पण को आधार के रूप में लिया गया है।

काव्य के मुख्यरूप से दो भेद हैं। दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। इन दृश्यकाव्यों के पुनः अनेक भेद हैं।

दृश्यकाव्य– दृश्यकाव्य अभिनेय होता है और इसको रूपक कहा जाता है। यह रूपक दो प्रकार के होते हैं– रूपक आक्र उपरूपक।

रूपकों के भेदों का सर्वप्रथम कथन भरत ने किया था। उन्होंने दस प्रकार के रूपकों तथा ग्यारहवीं नाटिका के लक्षण किए थे। भरत के अनुसार दस पंकार के रूपक निम्न हैं– नाटक, प्रकरण, अंङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम, ईहामृग।

रूपकों के भेदों का विस्तार से निरूपण भरत के पश्चात् नाट्यदर्पणकार ने किया। उन्होंने रूपकों के बारह भेदों की गणना की। इसमें ग्यारह भेद नाटिका सहित भरत के ही सदृश हैं। परन्तु बारह भेद प्रकरणी अतिरिक्त हैं। नाट्यदर्पणकार ने रूपकों के इन बारह भेदों के अतिरिक्त "**अन्यान्यपि च रुप्याणि दश्यन्ते**" कहकर तेइस भेद और परिगणित किये हैं।

(1) सदृक (2) श्रीगदित (3) दुर्मिलता (4) प्रस्थान (5) अपसार (6) गोष्ठी (7) हल्लीशतक (8) नर्तक (9) शम्या (10) लास्य (11) छलित (12) प्रेक्षक (13) रासक (14) पिण्डी (15) श्रृखलता (16) मेद्यक (17) नाट्यरासक (18) काव्य (19) शुद्ध (20) संङ्कीर्ण (21) चित्र (22) भाणक (23) भाणिका।

श्रव्यकाव्य– श्रव्यकाव्य के मुख्यरूप से तीन भेद कहे जाते हैं। गद्यकाव्य, पद्यकाव्य और गद्यपद्यमय काव्य। किन्तु यहॉ पर काव्यों के दो रूपों 'गद्य पद्य' का वर्णन ही संगत होगा।

अग्निपुराण में काव्य के तीन भेद किए गए हैं। गद्य, पद्य और मिश्र। चम्पू काव्य को भी उन्होंने माना है। इसलिए अग्निपुराणकार ने चम्पूकाव्य का भी उल्लेख किया है।

देवादोनां संस्कृतं स्यात्प्राकृतं त्रिविधं नृणाम्।

गद्यं पद्यं च तिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्।।

चम्पू गद्य तथा पद्य मिश्रित रचना है। परम्परा में इसका यह लक्षण प्रसिद्ध है–

गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा कविगुम्फिता।

उक्तिप्रयुक्तिविष्कम्भक शून्या चम्पूरुदाहृता।।

इस पारम्परिक लक्षण के अनुसार रूपक में से उक्ति प्रत्युक्ति या संवादों की शैली को हटा दिया जाय तो चम्पूकाव्य बन जाता है। अनेक अभिनेताओं के द्वारा प्रस्तुत न हो कर चम्पूकाव्य एक ग्रन्थ वाचक के द्वारा जन समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि काव्य श्रव्यकाव्य की विधाओं में परिगणित है। चम्पू के लक्षणों में सांका या अंक सहित होने का उल्लेख है। इसके उद्‌भव में दृश्य और श्रव्य काव्यों का संगम है। केरल में चम्पूकाव्यों का प्रबन्ध माना जाता है। इस प्रकार काव्य या नाटक में देव आदि के मुख से संस्कृत भाषा का प्रयोग कराना चाहिए। वैदिक काल से चली आ रही आख्यान और उपाख्यान की शैली का पुनराविष्कार है। आख्यान और उपाख्यान साहित्य का जितना सम्बन्ध दृश्यकाव्य से है। उतना ही श्रव्यकाव्य में भी है।

संस्कृत में गद्य काव्य परम्परा

जो रचना छन्दोबद्ध नहीं है उसको गद्य कहा जाता है। गद्य में जिस काव्य की रचना होती है, उसको गद्यकाव्य कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने गद्यकाव्य के मुख्य रूप से दो भेद किए हैं– कथा और आख्यायिका।

अग्निपुराण में गद्यकाव्य के पॉच भेद कहे गए हैं। गद्यकाव्य के भेदों का विस्तृत विवेचन पंण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने गद्य 'काव्य मीमांसा' नामक

ग्रन्थ में किया है। इसमें इन्होंने प्राचीन भेदों के साथ नवीन भेद भी परिगणित किए हैं। वे गद्य काव्य को उपन्यास नाम देते हैं। तथा इसके मुख्य नौ भेद निम्न हैं।

(1) कथा	(2) कथानिका	(3) कथन
(4) आलाप	(5) आख्यान	(6) खण्डनम्
(7) परिकथा	(8) संङ्कीर्ण	

अग्निपुराण में दिए गए विवेचन में पद (चरण) रहित पद समूह गद्य कहलाता है। चूर्णक उत्कलिका, वृत्त और सन्धि यह इनके रूप कहे गए हैं। जो गद्य अल्पाय समास से युक्त होते हैं और जिसमें कर्कश शब्दावली का प्रयोग होता है। उसे चूर्णक गद्य कहते हैं और जिस गद्य में लम्बे–लम्बे समास हों उसे उत्कलिका गद्य कहते हैं।

जिस गद्य में शब्दावली के अतिरिक्त न तो अतिकर्कश हों और न अति कोमल हों और न ही समास प्रौढ़ स्तर का हो तथा जिसमें वृत्त की छाया अत्यन्त हो, वह वृत्त संधि गद्य है।

अपदः पद सन्तानो गद्यं तदपि गद्यते।
चूर्णकोत्कलिका वृत्तसंधिभेदात् त्रिरूपकम्।।
अल्पाल्पपिग्रहं नातिमृदुसंदर्भनिर्भरम्।
चूर्णकं नामतो दीर्घ समासोत्कलिका भवेत्।।
भवेन्मध्यमसन्दर्भं नातिकुत्सित विग्रहम्।
वृत्तच्छायाहरं वृत्तसंधि नैतत्किलोत्कष्टम्।।[1]

---

(1) अग्निपुराण 337/9–11

आख्यायिका कथा, खण्डकथा, परिकथा, कथानिका, गद्य, काव्य के ये पॉच प्रकार हैं।

आख्यायिका कथा खण्डक या परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यते गद्यकाव्यं च पंचधा।।

जिस गद्य में काव्य में ग्रन्थकर्ता के वंश की प्रशस्ति विस्तार पूर्वक दी जाती है और जहॉ कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ जन्य विपत्तियॉ हों जहां रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति अपने चमत्कृत रूप में प्रस्तुत की जाय जिसके कथा भागों का नाम उच्छ्वास हो और जिसमें चूर्णक नामक गद्य का प्रयोग हो तथा कथा, नायक के मुख से कही गई हो अथवा किसी अन्य पात्र के मुख से उसे 'आख्यायिका' नामक गद्य काव्य कहा जाता है।

कृतवंश प्रशंसा स्याद्यत्र गद्येन विस्तरात्।
कन्याहरण संग्राम– विप्रलम्भविपत्तयः।।
भवन्ति यत्र दीपाष्च रीति वृत्ति प्रवृत्तयः।
उच्छ्वासैष्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा।।

जिस गद्य काव्य के ग्रन्थकर्ता संक्षेप से श्लोकों द्वारा अपने वंश की प्रशंसा करता है। जहॉ मुख्य कथा को लाने के लिए अवान्तर कथा की सृष्टि की जाती है और जिसमें परिच्छेद नहीं होते हैं। अथवा कहीं– कहीं (ग्रन्थ के अन्त में) समस्त वर्ण्य विषय, प्रबन्ध में अनुस्यूत रहता है। उस कथा का नाम गद्य काव्य दिया है। यदि कवि कथा काव्य में चतुष्पदी का प्रयोग करता है तो उसे खण्डकथा कहते हैं। कथा और परिकथा नामक गद्य काव्यों में राज्य का मंत्री, व्यापारी अथवा ब्राह्मण नायक होता है। इसमें करुण रस चार प्रकार का होता है और विप्रलम्भ श्रृंङ्गार भी होता है।

वक्त्रं वाऽपरवक्त्रं वा यत्र साऽख्यायिका स्मृता।
श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति।।
मुख्यस्यार्थवताराय भवेद्यत्र कथान्तरम्।
परिच्छेदो नयत्र स्याद्भवेद्धा लम्बकैः क्वचित्।।

सा कथा नाम तद्गर्भे निबध्नीयाच्चतुश्पदीम्।
भवेत्खण्डकथा थाऽसौ कथा परिकथा तयोः।।
अमात्यं सार्थकं वाऽपि द्विजं वा नायकं विदुः।
स्यातयोः करुणं विद्धि विप्रलम्भश्तुर्विधः।।

कथा और परिकथा नामक इन दो गद्यकाव्य भेदों में से कथा में घटना समाप्त नहीं की जाती है। अपितु अधूरी छोंड़ दी जाती है। कथा और आख्यायिका के मिश्रित रूप को परिकथा कहते हैं। कथनिका नामक गद्यकाव्य में सुखपरक भयानक रस, मध्य में करुण रस और अन्त में अद्भुत रस का परिपाक होता है। इस गद्यकाव्य का केन्द्रीय रूप विषय उदात्त न होते हुए भी सुनियोजित अवश्य होना चाहिए।

समाप्यते तयोर्नाऽऽद्या सा कथामनुधावति।
कथाख्यायिकयो र्मिश्रभावात्परिकथा स्मृता।।
भयानकं सुखपरं गर्भे च करुणो रसः।
अद्भुतोऽयन्ते सुक्लृप्तार्थो नोदात्ता सा कथानिका।।

वैदिक वाङ्मय देववाणी (संस्कृत भाषा) में गद्य की एक सुसम्पन्न परम्परा वैदिक काल में ही आरम्भ हो गयी थी। वल्कि यों कहा जाय कि 'आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम अवतार हमारी देववाणी में ही हुआ' तो अतिशयोक्ति नहीं होगा। हमें गद्य का प्रथम दर्शन वैदिक संहिताओं में ही होता है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है। प्राचीनतम गद्य का उदाहरण हमें इस वेद की तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध होता है। इस वेद की अन्य संहिताओं जैसे– काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि में भी गद्य की सत्ता उसी मात्रा में है। कालक्रम में कुछ उतरकर अथर्ववेद का गद्य है। अथर्ववेद का छठवां भाग गद्यात्मक है। ब्राह्मण साहित्य की रचना गद्यरूप में ही है। यज्ञों के वर्णनात्मक होने से इनका प्रयोग उचित है। आरण्यकों में भी गद्य की प्रचुरता है। प्राचीन उपनिषद् भी गद्यात्मक हैं। इस तरह वैदिक वाङ्मय गद्य से सुसम्पन्न हैं।

लौकिक वाङ्मय का क्रम वैदिक वाङ्मय के पश्चात् आता है। जिस तरह वैदिक साहित्य गद्य विधा से परिपूर्ण है। तद्वद् लौकिक साहित्य भी परिपूर्ण है। वास्तव में गद्यविधा पद्यविधा से अधिक रोचक एवं महत्वपूर्ण है। तभी तो कहा गया है कि **''गद्य कवीनां निकशं वदन्ति''**। गद्य ही कवियों की कसौटी है। जिस पर कसे जाने पर उसकी कला का जौहर चमक उठता है। कवि गद्यमयी रचना को अपने भावों में व्यक्त करने के लिए सर्वथा स्वतंत्र होता है। इसलिए यह रचना अधिक हृदयावर्जक होती है। लौकिक गद्य तो मानव मन को मुग्ध कर देने वाले होते हैं। लौकिक वाङ्मय में गद्य साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है। कथा तथा आख्यायिका, अग्निपुराण, काव्यादर्श, रुद्रटकृत, काव्यालंङ्कार तथा साहित्यदर्पण आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ये भेद प्रतिपादित हैं। कथा की वस्तु काल्पनिक होती है। आख्यायिक में ऐतिहासिक वृत्तान्त का निरूपण रहता है। मुख्यरूप से यही इसमें अन्तर होता है। आचार्य भामह ने इन दोनों को गद्यकाव्य की पृथक–पृथक विधाओं के रूप में प्रतिपादित किया है। दण्डी ने कथा तथा आख्यायिका का लक्षण करके अन्त में कहा है कि वस्तुतः यह एक ही जाति या विद्या है। जिसके दो अलग–अलग नाम दे दिये गये हैं। तथापि परिवर्ती आचार्यों ने कथा का उदाहरण उन्हीं के हर्षचरित को मानते हुए दोनों के लक्षण व परस्पर अन्तर इस प्रकार स्थापित किये हैं।

कथा में विषय वस्तु कवि कल्पित होती है और आख्यायिका में ऐतिहासिक विषय वस्तु का वर्णन है। वह निम्नवत् है–

1– कथा में आरम्भिक पद्यों में सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा तथा कवि के वंश का वर्णन रहता है। आख्यायिका में प्राचीन कवियों की प्रशंसा तो आरम्भिक पद्यों में रहती है पर कवि वंश वर्णन गद्य में ही रहता है।

2– कथा का सर्ग या उच्छ्वास, निःश्वास या आश्वास आदि में विभाजित रहती है।

3–कथा में एक आवान्तर प्रसंङ्ग से आरम्भ करके मुख्य कथा का उपक्रम किया जाता है। आख्यायिका में कवि अपना परिचय देकर उसके माध्यम से मुख्य मार्ग को आरम्भ करता है। इस प्रकार आख्यायिका का आरम्भ आत्मकथात्मक होता है। यद्यपि कवि अपने लिए इसमें अन्य पुरुष का प्रयोग करता है। भामह के मत से नायक स्वयं अपना चरित्र वर्णन करे तो आख्यायिका कही जाती है।

4–आख्यायिका में वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है, कथा में नहीं।

5– कथा संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत या अपभ्रंश में भी लिखी जा सकती है, आख्यायिका संस्कृत में ही हो सकती है।

गद्य तथा पद्य द्वारा वर्ण्य विषयों का तारतम्य भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में दिखलाया है। इनका कहना है कि गद्य के माध्यम से वैशिष्ट्य विषय लक्षित होता है। अटवी आदि के वर्णन में पद्य की अपेक्षा गद्य की प्रगल्भता है। तथा काव्यशास्त्रीय निर्वहणोचित अर्थ में पद्य की विशेष महिमा है। कोई अर्थ उभय माध्यमों के द्वारा और कोई अर्थ त्रिविध (गद्य, पद्य तथा मिश्र) माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति की योग्यता रखता है। कथा और आख्यायिका का निर्वाह गद्य के द्वारा ही समुचित रीति से हो सकता है और इसलिए गद्य कवियों की अभिरुचि इस विषय की ओर सबसे अधिक है।

सामान्यतः बोलचाल की भाषा में भी गद्य परम्परा का ही प्रयोग किया जाता है। गद्य के माध्यम से अपनी बात को श्रोताओं तक सरलतया पहुंचाया जा सकता है। इसलिए इसका प्रयोग बहुधा किया जाता है। गद्य का प्रयोग करते समय क्रिया एवं कर्म का महत्व कम रह जाता है– जैसे ''देवदत्तः शतं मुक्ष्णाति'' एक वाक्य है। इसमें देवदत्त सौ चुराता है। परन्तु वह सौ क्या है? इसका पता नहीं है। अर्थात् सौ रुपये हैं, या कोई दूसरी वस्तु संख्या में है, इसका ठीक–ठीक पता नहीं है। इस तरह गद्य में मनोभावों का आदान प्रदान सरल हो जाता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि लौकिक वाङ्मय में गद्य की जो परम्परा रही वह सार्थक है। उसके माध्यम से जनता में संस्कृत मय भाषा का अवबोध सरल हो जाता है। इसलिए इसे माध्यम बनाकर संस्कृतज्ञों ने राष्ट्रहित में इसका प्रचार प्रसार करना शुरू किया। काव्य रचना, साहित्य रचना इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। लौकिक गद्य का अपना अलग वैशिष्ट्य है।

पौराणिक गद्य– पंचम स्कन्द के अतिरिक्त भी श्रीमद्भागवत में गद्य का दर्शन होता है। षष्ठ स्कन्द में जब देवताओं की प्रर्थना पर भगवान् श्री नारायण जी प्रगट होते हैं। तो देवतागण इनका दर्शन प्राप्त कर भाव विह्वल होकर कहने लगते हैं। भगवन! नारायण! वासुदेव! आप आदि पुरुष (जगत के परम कारण) और महापुरुष (पुरुषोत्तम) में आपकी महिमा असीम है। आप परम मंङ्गलमय, परमकल्याण स्वरूप और परम दयालु है। आप ही सारे जगत के आधार एवं अद्वितीय हैं, केवल आप ही सारे जगत् के स्वामी हैं। आप सर्वेश्वर तथा सौन्दर्य और मृदुलता की अधिठात्री देवी लक्ष्मी के परमपति हैं। भो! परमहंस परिब्राजक विरक्त महात्मा जब आत्मसंयम रूप परम समाधि से भली भॉति आपका चिन्तन करते हैं। तब उन्हें शुद्ध हृदय में परम हसेः के धर्म वास्तविक भगवद्भजन का उदय होता है। इससे उनके हृदय के अज्ञान रू॰ के किवाड़ खुल जाते हैं और उनके आत्मलोक में आप आत्मानन्द के रूप में बिना किसी आवरण के प्रगट हो जाते हैं और वे आपका अनुभव करके निहाल हो जाते हैं। हम आपको बार–बार नमस्कार करते हैं।

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन् नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममंगल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेष्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिवज्रकेः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुट पारमहंस्यधर्मेणोद्घाटित परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुट

पारमहंस्यधर्मेणोद्घाटितमः कपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमलंध्धनिजसुखानुभवो भवान्।

इस तरह पौराणिक गद्य की छटा दृष्टिगोचर होती है। जो अनुपमेय है।

साहित्यिक गद्यकाव्यों का स्रोत एवं विकास

गद्य काव्य के लेखकों में सुवन्धु ही सर्वप्रथम लेखक हैं। जिनका ग्रन्थ अलंकृत शैली में निबद्ध गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके समय व स्थान का यथार्थ परिचय अभी तक नहीं मिलता। वाणभट्ट के द्वारा प्रशंसित किए जाने के कारण ये वाण से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उन्होंने एक श्लेष के द्वारा न्यायवार्तिक के रचयिता प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर का स्पष्टतः संकेत किया हैं। **''न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्''** उद्योतकर का समय षष्ठ शताब्दी का अन्त तथा सप्तम का आदि माना जाता है। इस निर्देश से सुवन्धु का समय उद्योतकर के अनन्तर होना चाहिए। एंतिहासिक गन्वेषणा उपयुक्त सामग्री के अभाव में समय का यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती। हर्षवर्द्धन (606–48ई0) के सभा पण्डित होने से वाणभट्ट का समय 630–640ई0 तक का मानना उचित प्रतीत होता है। वाण से पूर्ववर्ती होने के कारण सुवन्धु का समय का समय 600ई0 तक के आस पास तथा पाश्चादृती होने के कारण दण्डी का समय 650ई0 के बाद मानना उचित जान पड़ता है। फलतः गद्यकाव्यों के इन महनीय लेखकत्रयी का समय क्रम इस प्रकार है।

1–सुवन्धु– ग्रन्थवासवदत्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं।

2– वाणभट्ट और

3– दण्डी

वाणभट्ट का गद्य स्निग्ध रस पेशल पांचाली का भव्य प्रतीक है। वाणभट्ट सहृदयों के हृदय को स्पन्दित करते हैं। वैदिक काल से आरम्भ कर मध्यकाल तक गद्य के विकसित होने के इतिहास का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया गया है। इसमें साहित्य गद्य का समग्र सौन्दर्य विद्यमान है। इसमें विशेष गाढ़बन्धता की कमी अवश्य है। परन्तु भागवत् का गद्य तो नितान्त प्रौढ़ अलंकृत तथा भावाभिव्यंजक है।

शास्त्रीयग्रन्थ– 'हर्षचरित'

काव्य के साहित्य में यह सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। **''ओज समासभयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्''** उस काल गद्य का जीवन समास बहुलता साहित्यिक नियम के अनुसार गद्य की रचना की गयी है। 'हर्षचरित' में आठ उच्छ्वास हैं। प्रथम उच्छ्वास के आरम्भ में ग्रन्थकार ने इक्कीस रूलोक बनाये हैं। जिसमें कतिपय सामान्य बातों के अनन्तर व्यास, वासवदत्ता, भट्टार, हरिश्चन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन, भास, कालिदास, वृहत्कथा जैसे मान्य कवियों तथा ग्रन्थों की प्रशस्त स्तुति है। यह वर्णन कवियों के समय निर्देशन के लिए नितान्त महत्वशाली हैं। इसमें वात्स्यायन वंश में जन्म, पूर्वजों का चरित, वाण का नाना संगियों के साथ देश देशान्तर में भ्रमण तथा प्रत्यावर्तन आदि प्रथम उच्छवास में वर्णित है। दूसरे उच्छ्वास में हर्ष के भाई कृष्ण का लेखहारक मेंखलक वाण को हर्ष के पास चलने का निमंत्रण देता है। तृतीय उच्छ्वास में वाण घर लौट आते हैं और अपने चचेरे भाइयों के कहने पर हर्ष का चरित कहने बैठ जाते हैं। चतुर्थ उच्छ्वास में वंश के संक्षिप्त वर्णन के अनन्तर राजाधिराज प्रभाकरवर्धन तथा उनकी महिषी यशोमती का वर्णन है। पंचम उच्छ्वास में राजकुमारों की विजय गाथा आरम्भ होती है। हूणों को जीतने के लिए राज्यवर्द्धन हर्ष सेना के साथ प्रस्थान करता है। षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्द्धन के लौटने तथा पिता द्वारा हर्ष को राज्य देकर स्वयं छुटकारा पाने

का प्रथमतः वर्णन है। सप्तम् उच्छ्वास में श्री हर्ष के दिग्विजय का रोचक वर्णन प्रस्तुत है। वह अपनी विपुल सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है।

कादम्बरी

बाणभट्ट की उत्कृष्ट रचना कादम्बरी है। कादम्बरी की कथा एक जन्म से सम्बद्ध न होकर तीन जन्मों से सम्बन्ध रखती है। कादम्बरी बाणभट्ट की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके दो खण्ड हैं। कादम्बरी पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध इसमें भाषा और भाव शब्द और अर्थ दोनों का उचित सम्मिलन है। गद्यकाव्य में लक्षित वर्णनों की सुन्दरता की मनोरम छटा दर्शनीय है। कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही अलंङ्कारों की मधुर झंङ्कार कानों को सुख दे रही है। रागात्मिकता वृत्ति की सुगम व्यंजना हृदय को खिला रही है। सत्य तो यह है कि अलंङ्कार तथा रस के मधुर मिलन में कादम्बरी भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में कल्पना के वर्णन के अनुरूप संघटन में कादम्बरी संस्कृत साहित्य में अनुपम अद्वितीय है। कादम्बरी हृदय को मत्त कर देने वाली मीठी मदिरा है। यही शास्त्रीय गद्य की परम महिमा है। जो रसिक जनों को आकृष्ट करती है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान तथ्य की सत्यता से प्रमाणित करती है। शुकनास ने राजकुमार चन्द्रापीड़ को लक्ष्मी के दोषों का वर्णन प्रसंग में नीति तथा काव्यों का बड़ा चमत्कारिक वर्णन प्रस्तुत किया है। रूपों का विन्यास तथा उपमा का निवेश इतना सुन्दर है कि लक्ष्मी की मूर्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव हो उठती है। ''लक्ष्मी तृष्णा रूपी विसलता के लिए संवर्धन की जलधारा है, इन्द्रिय रूपी मृगों को लुभाने के लिए व्याध की गति है, सच्चरित रूपी चित्रों को पोंछ डालने के लिए धूम की रेखा है, यह सब अवनियों की पुरःसर पताका है, क्रोधोवेग रूपी ग्राहों की उत्पत्ति के लिए नदी है, विषयमधुओं के लिए यह अपानभूमि है।'' यह वर्णन रूपक की छटा से

कमनीय है। अन्यत्र विरोधाभास का अपूर्व विलास है। कवि के विचार बड़े ही उदार तथा उदात्त हैं, लक्ष्मी के कारण उत्पन्न होने वाले समस्त दोषों का इतना सूक्ष्म वर्णन की दूरंङ्गमा दृष्टि का प्रत्यक्ष फल है। महाश्वेता का दर्शन कर पुण्डरीक की कामवासना का चित्रण वाण के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचायक है।

वाणभट्ट की शैली गद्य कवियों के लिए आदर्श भूत है। वे प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं। आलोचक वाण के गद्य को भारतीय जंगल के समान भयावह तथा हिंसक पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं। संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मंजुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यंजना हो सकती है इसकी पूर्ण परिचायक वाणभट्ट की कादम्बरी है।

इस तरह से गद्यकाव्य परम्परा को संक्षेप में निरूपित किया है। वेद और लोक दोनों में गद्य की छटा अवलोकनीय है। इसलिए गद्य विधा पद्यविधा की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी जाती है।

चम्पूकाव्य

संस्कृत साहित्य में पद्यकाव्य और गद्यकाव्य के अतिरिक्त चम्पूनाम्ना अभिहित काव्य का विपुल साहित्य है यह साहित्य अपने साहित्यिक सौन्दर्य मधुर विन्यास तथा रस– पेशलता की दृष्टि से अन्य साहित्य से हीन नहीं है। चम्पूकाव्य को दण्डी ने सर्वप्रथम लक्षण निर्दिष्ट किया है।

''गद्यपद्यमयी काचित् चम्पूरित्यपि विद्यते''

ठस लक्षण वाक्य के काचित् तथा विद्यते पद संकेत करते हैं कि चम्पूकाव्य की सत्ता उस काल में अवश्य ही गद्य पद्य का मिश्रण चम्पू का जीवातु था।

इस विषय में वे आश्वस्त थे–

हेमचन्द्र, वाग्भट, विश्वनाथ, कविराज, शारदातनय आदि आचार्य भी एकमत थे। चम्पूकाव्य के रचयिता कविजन इस चमत्कार के प्रमाण हैं।

जीवन्धर चम्पू के रचयिता— चम्पूकाव्य के विहार को जल विहार के समान आनन्दप्रद तथा बालभागवत चम्पू के कर्ता पद्यराज गद्यपद्य मिश्रित चम्पू को कोमल किसलय कलित तुलसी माला के सदृश मनमोहक मानते हैं।

हरिश्चन्द्र— चम्पू को वाल्य तथा तारुण्य से सम्पन्न किशोरी कन्या के समान अधिक रसोत्पादक अंङ्गीकार करते हैं।

भोजराज— गद्य समन्वित पद्यसूक्ति को वाघ से युक्त गायन के समान अधिक हृदयावर्जक मानते हैं।

चम्पूकाव्य गद्यकाव्य का ही प्रकारान्तर से उपबृहण है इसलिए इसका उदय का काल गद्यकाव्य के सुवर्ण युग से पश्चादवर्ती है। दशम् शती से प्राचीन किसी चम्पू की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। परन्तु गद्यपद्य मिश्रित शैली का प्रयोग नितान्त प्राचीन हैं कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध तैत्तिरीय मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में गद्यपद्यात्मक इस शैली का दर्शन होता है।

वर्तमान में हम कह सकते हैं चम्पू भी उतना ही प्राचीन है जितनी कि काव्य की गद्य और पद्य शैली। संहिता में उत्तरकालीन साहित्य में इसकी उपलब्धि होना स्वाभाविक है। ध्यातव्य है कि मिश्र शैली से सम्पन्न ये रचनाएं चम्पूकाव्य के अग्रदूत नहीं है। चमत्कारपूर्ण शब्दावली, सुन्दर कल्पना, समस्त पदों का प्राचुर्य, विश्लेषणों की बहुलता, श्लोकों में अलंङ्कारों का विन्यास ये प्रमुखतया चम्पूकाव्य के वैशिष्ट्य हैं।

चम्पूकाव्य वह लोकप्रिय काव्य है जो अट्ठारहवीं शताब्दी तक साहित्य के एक चमत्कारी विद्या के रूप में समाद्वत होता आया है। प्रमुख चम्पूकाव्य निम्नवत् हैं—

त्रिविक्रमभट्ट की रचना— नलचम्पू (दमयन्ती चम्पू) चम्पू साहित्य का आदिग्रन्थ है। शांडिल्यगोत्री श्रीधर के पौत्र तथा (नौसारी शिला लेख द्वारा प्रमाणित) नेमादित्य के पुत्र त्रिविक्रम सरस्वती की कृपा से ऐसे चमत्कारी चम्पू की रचना में समर्थ हुए। त्रिविक्रम की दूसरी रचना भी चम्पूकाव्य है—

मदालसा चम्पू। जो एक प्रणय कथा है। राजा कुवलाश्व और उसकी रानी मदालसा का चरित्र मार्कण्डेय पुराण में (अध्याय 18 से 22 तक) विस्तार से वर्णित है उसके आधार पर इस चम्पू काव्य का प्रणयन है। नलचम्पू की भॉति इसमें रमणीयता की कमी है। परन्तु कथा के विकास तथा काव्यसौष्ठव के कारण यह भी लोकप्रिय रचना है।

सोमदेव सूरी– **(यशस्तिलक चम्पू)** – जैनपुराण के विश्रुत यशोधर के चरित का वर्णन बड़ी ही प्रौढ़ अलंङ्कारिक शैली में करता है। चम्पू में आठ आश्वास हैं जिनके आदिम पॉच आश्वास में तो यशोधर के आठ जन्मों की कथा वर्णित है तथा अन्तिम के तीन आश्वास जैनधर्म के तथ्यों का विस्तार से वर्णन करते हैं जिसके कारण वे श्रावकाध्ययन नाम से प्रसिद्ध हैं।

'यशस्तिलक' की भाषा बड़ी प्रांजल और शैली प्रौढ़ तथा आकर्षक है। सोमदेव अशेष विधाओं और शास्त्रों में विलक्षण थे फलतः इसमें उनके पाण्डित्य का दर्शन पदे–पदे होता है। अग्निपुराण की दृष्टि से भी धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों का इन्होंने बड़ा रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। 'नीतिवाक्यमत' भी इनकी दूसरी सूत्रात्मक रचना है। इसमें भी सोमदेव की राजनीतिज्ञता का प्रौढ़रूपेण प्रकाशन है। उद्देश्य उनका जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रसार तथा प्रचार है। पद्यों की प्रचुरता दोनों भागों में दृष्टिगोचर होती है। कवि में उच्च कोटि की प्रतिभा है।

उनके काव्य के धर्म में नीति सम्बन्धी सूक्तियों का बाहुल्य होना स्वाभाविक है। वार्णिक तथा मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का इस चम्पू में चयन है।

विचक्षणः किन्तु परोपदेशे न स्वस्य कार्ये सकलोऽपि लोकः।

नेत्रं हि दूरेऽपि निरीक्षमाणमात्मावलोके त्वसमर्थमेव।।

हरिश्चन्द्र– उत्तरपुराण में वर्णित जैन साहित्य में विश्रुत जीवनधर की कथा का साहित्यिक रूप वादीभासिंह ने गद्य (गद्यचिन्तामणि) तथा पद्य

(क्षत्रचूड़ामणि) दोनों रूपों में प्रस्तुत किया था। इन्हीं से प्रभावित होकर हरिश्चन्द्र ने इस रोचक चम्पू का प्रणयन किया था। यह चम्पू नितान्त आवर्जक है।

रामायणाश्रित चम्पू– रामायण के आधार पर अनेक चम्पुओं की रचना उपलब्ध है। इनमें से अधिकांश सम्पूर्ण रामायण की कथा का चित्रण करते हैं। उत्तरकाण्ड की कथा पर स्वल्प चम्पू आश्रित है। रामायण चम्पू का बड़ा रोचक तथा मंजुल चम्पू है। भोज ने पात्रों का चरित्र तथा कथाओं का विन्यास सुन्दरता से किया है। भोज का यह चम्पूकाव्य के कलापक्ष का सौन्दर्य पूर्णतः प्रदर्शित करता है। प्रसादमयी शैली में नवीन भावों का परिचय चमत्कार जनक है रावण के स्वरूप का परिचायक पद्य नितान्त मंजुल है।

निः श्रेयसप्रणयिनीं पदवी निरोद्ध
त्रैत्योक्यपापपरिपाकमिवात्तरूपम्।
सूर्येन्दु पावकमहांसि तपोवलेन
जित्वायथेच्छमभिषिक्तमिवान्धकारम्।।[1]

महाभारताश्रित चम्पू– इसका कथानक बहुत विस्तृत है। इसमें कथानक को आश्रित कर निवद्ध चम्पुओं की संख्या (प्रकाशित अप्रकाशित) सत्ताईस है। इनमें से कतिपय ही समग्र कथा को स्पर्श करते हैं। किसी विशिष्ट कथानक तथा उपाख्यानों पर आश्रित चम्पुओं की संख्या अधिक है। इस समुदाय के काव्यों में सर्वश्रेष्ठ तथा विश्रुत चम्पू हैं।

महाभारत के विभिन्न प्रसंङ्गों के वर्णन में कवि अभिरुचि रखता है और यह चमत्कारी वर्णन ही चम्पू भारत का जीवातु है।

सकलमपि बपुर्विभूष्य तन्त्याः सपदि सखी विपुलेक्षणाम्बुजापि।
चिरतरमनवेस्य मध्ययष्टि करधृतकांचन कांचिरेव तस्यौ।।

ऐसी ही चमत्कारी सूक्तियों के कारण यह भारत चम्पू कथा कहने वाले व्यास लोगों का नितान्त लोकप्रिय काव्य है।

कृष्णकथापरक चम्पू– भागवत पुराण विशेषतः दशम स्कन्ध के आधार पर अनेक लेखकों ने अपनी लेखनी चलाई है। इस चम्पू की अपेक्षा भक्ति रस की अभिव्यक्ति तथा वर्णन की प्रचुरता में कवि कर्णपूर का आनन्दवृन्दावन चम्पू कहीं अधिक हृदयावर्धक उदात्त रस मण्डित तथा वृत्त प्राचुर्य सम्पन्न है।

पौराणिक चम्पू– कवि ने इस चम्पू में नव रसों का निवेश बड़ी मार्मिकता से किया है और यही इसका वैशिष्ट्य है। कवि की भाषा में लालित्य है।

---

(1) सुन्दरकाण्ड श्लोक 46

प्रख्यात धार्मिक आचार्यें का जीवन चरित भी चम्पूकाव्यों का श्लाघनीय स्रोत रहा है। निम्नलिखित चम्पू हैं–

जीवनचरित विषयचम्पू

लक्ष्मीपति कृत शंङ्करचम्पू

नीलकण्ठ कृत शंङ्करमन्दारसौरभ

वालगोदावरी कृत शंङ्कराचार्यचम्पूकाव्य

अहोवलसूरि कृत यतिराजविजयचम्पू

वेंकटाध्वरी कृत विश्वगुणादर्शचम्पू

पूर्वोक्त चम्पुओं के विषय में नितान्त भिन्न है। जिसमें उदाहरण के साथ अलंङ्कार गुण दोष आदि काव्यतत्वों का विवेचन किया गया है। भारत के कवियों ने इस गद्यपद्य की मिश्रित विधा को अपनी रसमयी रचनाओं के द्वारा खूब परिष्कृत किया उनमें से प्रमुख चम्पुओं का यह दिग्दर्र्शन उनके उदय का तथा अभ्युदय का परिचायक है।

पद्य

(1) (गायत्री आदि छन्दः शास्त्र में प्रसिद्ध) छन्दों से रचित पद (**सुप्तिऽन्तं पदम्**) वाले काव्य को पद्य कहते हैं। यह पद्य का सामान्य लक्षण है।

(2) उपपद्य से मुक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निरपेक्ष होने से (**मुक्तमेवमुक्तम्**) मुक्तक

(3) दो (पद्यों) से वाक्यापूर्ति होती है। (**युग्ममेव युग्मकम्**) युग्मक

(4) तीन पद्यों से वाक्य की पूर्ति होती है। **सन्दानतिकं सन्दानं सम्मेलनमस्य सज्जामिति सन्दानतिकम्** कहा जाता है।

(5) और चार पद्यों से वाक्य पूर्ति होती है। (**कलापक**)

(6) तथा पॉच पद्यों से वाक्य की पूर्ति होती है। वे कुलक माने गए हैं।

छन्दोबद्ध पदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते।।
क्लापाकं चतुर्भिष्च पंचानितकं कुलकंमतम्।।

(पंचाभिः से यह द्योतिक होता है कि उससे कम संख्या नहीं होती है। इसलिये शिशुपाल वध आदि में दस पद्यों से कुलक सूचित किया जाता है।)

सन्दानतिक के ही विशेषक और तिलक ये दो अन्य नाम हैं।

कलापक को ही काश्मीरी कवि ''चक्कलक'' कहते हैं।

अग्निपुराण में पद्य के लक्षण और उसके भेदों का वर्णन इस प्रकार है।

पद्य के भी चार पाद होते हैं। वृत्त और जाति, इसके दो भेद होते हैं। जहॉ पर नियमानुसार अक्षरों की संख्या की जाती है। उसे वृत्त कहते हैं। जहॉ मात्राओं की गणना की जाती है। उसे जाति छन्द कहते हैं। छन्दशास्त्र के अनुसार सम अर्धसम विषम छन्द के ये तीन भेद माने गए हैं। छन्दशास्त्र का ज्ञान काव्यरूपी गम्भीर सागर को पार करने के लिये नाव की तरह सहायक है।

पद्य चतुश्पदी तष्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तंमक्षरसंख्येयमुख्यं तत्कृतिषेषजम्।।
मात्राभिंगर्णना यत्र सा जातिरिति काश्यप।
सभम्धर्मसमं वृत्तं विषमं पैङ्गलंत्रिधा।।

महाकाव्य कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक, कोष ये पद्य के भेद हैं।

सा विद्या नौस्तितार्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।
महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम्।।
कुलकं मुक्तकं कोश इति पद्य कुटुम्बकम्।।

काव्यशास्त्र विमर्श में पद्यों के भेद इस प्रकार बताए गए हैं। पद्यशास्त्र के भेदों को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– अनिवद्ध काव्य और प्रबन्ध काव्य।

अनिवद्ध काव्य– अनिवद्ध काव्य वे हैं जिनमें किसी सुनियोजित कथाबन्ध की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार के काव्य में एक या दो या कुछ अधिक श्लाकों में अन्य श्लोकों से सम्बन्ध हुए बिना काव्यत्व निहित होता है।

सामान्यतः इस प्रकार के काव्य को मुक्तक काव्य कहा जाता है, परन्तु तीन, चार एवं पॉच श्लोकों का परस्पर सम्बन्धता की दृष्टि से विश्वनाथ ने इस प्रकार के काव्य के पॉच भेद किए हैं।

(1) **मुक्तक–** एक ही श्लोक में बिना अन्य श्लोक की अपेक्षा किए बिना काव्यत्व निहित हो जाने को मुक्तक काव्य कहा जाता है।

(2) **युग्मक–** दो परस्पर सम्बद्ध श्लोकों की रचना करने पर युग्मक काव्य होता है।

(3) **सन्दानितक–** तीन परस्पर सम्बद्ध श्लोकों की रचना होने पर सन्दानितक नाम का काव्य होता है।

(4) **कलापक–** चार परस्पर सम्बद्ध श्लोकों की रचना से बनने वाले काव्य को कलापक कहते हैं।

(5) **कुलक–** यदि पॉच परस्पर स्म्बद्ध श्लोकों की रचना की जावे तो इस वाक्य को कुलक कहा जाता है।

प्रबन्ध काव्य– जिस काव्य में किसी सुनियोजित लम्बी कथा का आयोजन किया जाता है, उसको प्रबन्ध काव्य कहते हैं। प्रबन्ध काव्य के पद्य में दो भेद होते हैं– महाकाव्य और खण्डकाव्य।

(1) **महाकाव्य–** महाकाव्य का कथानक अतिविस्तृत होता है और इसका विभाजन सर्ग, परिच्छेद आख्यान आदि में किया जाता है। महाकाव्य के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या भामह, दण्डी, रुद्रट आदि आचार्यों ने की है।

(2) **खण्डकाव्य–** खण्डकाव्य का रूप तो महाकाव्य जैसा ही होता है, परन्तु इसका कथानक छोटा होता है और यह काव्य स्वल्पकाय होता है।

(3) **कोषकाव्य–** विश्वनाथ ने पद्यकाव्य का एक और भी भेद किया है। कोषकाव्य इसमें एक ही विषय से सम्बन्धित परस्पर अनक्षेप श्लोकों का संग्रह होता है। सूक्ति मुक्तावली आदि काव्य इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

महाकाव्य का लक्षण

महाकाव्य सर्गों में विभक्त होते हैं, सर्ग न बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए। वैसे तो एक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग होता है और (अन्तिम पद्य को छोंड कर) परन्तु किसी दो सर्ग में नाना छन्दों का भी उपयोग होता है। किसी सर्ग के अन्त में भावी कथा का संङ्केत भी देखा जाता है। सर्ग का नाम सर्ग से विशेष सम्बद्ध कथा पर रखा जाता है। महाकाव्य के प्रारम्भ में जो मंङ्गल होता है। उसमें या तो स्तुति होती है या श्रोताओं को आशिर्वाद दिया जाता है। अथवा कथावस्तु का निर्देश होता है। दुष्टजन निन्दा भी करते हैं। एवं सज्जन प्रशंसा करते हैं। किसी महाकाव्य के नामकरण का आधार वर्ण्य विषय, कवि तथा नायक का नाम अथवा अन्य कोई आधार होता है।

सर्गबन्धौ महाकाव्यम् तत्रैको नायकः सुरः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाइह।।
नानावृत्तमयः क्वापिसर्ग कष्चन दृष्यते।
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।।
आदौ नमस्क्रिया शीर्वा वस्तुनिर्देष एव वा।
क्वाचिनिन्दा खलादीनां सतां च गुण कीर्तनम्
एकवृत्तमयैः पधैरवसानेऽन्सवृत्तकै।।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकरस्येतरस्यवा।
नामास्य सर्गोपादंयकथाया सर्गनाम तु।।

महाकाव्य का नायक देवता उत्तम वंश में उत्पन्न धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रिय होता है। अथवा एक ही कुल में उत्पन्न बहुत से नृप नायक हो सकते हैं—जैसे रघुवंश में। प्रमुख एक ही होता है। श्रृंङ्गार, वीर, शान्त रस इन तीन रसों में एक ही रस मुख्य होता है। शेष सभी रस के अंङ्ग होते हैं। नाटक की सभी सन्धियॉ भी इसी महाकाव्य में होती हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन

चार पुरुषार्थों में से एक महाकाव्य का फल होता है। कथानक या तो ऐतिहासिक होता है। अथवा किसी सज्जन व्यक्ति के चरित्र पर आद्धत होता है। महाकाव्य में यथायोग्य संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष,(रात्रि का प्रथम भाग) रजनी, मुख, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतुयें, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्पर्श, नगर, यश, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्रोत्पत्ति इत्यादि विषयों का सांङ्गोपांङ्ग अध्ययन प्राप्त होता है।

तत्रैको नायकः।

सदवंषः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।।
एकवंषभवा भूवाः कुलजा वहवोऽपि वा।
श्रृंङ्गार वीर शान्त नामकोऽङ्गी रस इष्यते।।
अंङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वेनाटकसंघयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।।
चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
सन्ध्यॉ सूर्येन्दु रजनी प्रदोषध्वान्तवासराः।।
प्रातःर्मध्याह्व मृगया शैलर्तुवन सागराः।
सम्भोग विप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।।
रणप्रयाणोपयमन्त्र पुत्रोद यादवः।
वर्णनीया यथायोग साङ्गोपांङ्गा अभिइह।।

महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण सभी महाकाव्यों में घटित नहीं होते हैं। अतः इन्हें अनिवार्य लक्षण न मानकर सामान्य लक्षण मानना चाहिए।

'अग्निपुराण' में अग्निदेव ने महाकाव्य का लक्षण करते हुए यह लिखा है–

महाकाव्यों का विभाजन सर्गों में होता है और आरम्भ संस्कृत से होता है। महाकाव्यों का स्वरूप छोडते हुए, प्राकृत आदि से आरम्भ करना भी दोष नहीं है। इसका इतिवृत्त इतिहास की कथा से सम्बन्धित हो अथवा सभ्यों में प्रचलित हो। मंत्रणा दूत प्रेषण युद्धादि आदि का विस्तार न हो। शक्वरी, अतिजगती, अतिशक्वरी, त्रिष्टुप, पुष्पिताग्रा, वक्त्रादि छन्दों सर्ग अति संक्षिप्त न

हों अतिशक्वरी आदि छन्दों के साथ– साथ कोई सर्ग मात्रा छन्दों से भी रचित होना चाहिए। जिस पद्धति में सज्जनों का अनादर होता है वह निन्दित हैं। अतः यहॉ वह त्याज्य हैं।

कुलकं मुक्तकं कोश इति पद्यकुटुम्बकम्।
सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्ध संस्कृतेन यत्।।
तदात्म्यमजहत्तत्र तत्समं नातिदुश्यति।
मंत्रदूत प्रयोगाजिनियतं नाति विस्तरम्।।
शक्वर्श्याऽतिजगत्याऽति शक्वर्यात्रिष्टुभोयत्।
पुष्पितागदिभिर्वक्त्राभिजनैष्चारुभिः समैः।।
मुक्तातु भिन्नवृत्तान्ता नाति संक्षिप्त संर्गकम्।
अतिशक्वारी काष्टभ्यामेक संकीर्णकैः परः,
मात्रयाऽप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः।।[1]

नगर–वर्णन, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, आश्रम, पादप, उद्यान, जलक्रीडा, मद्यपानादि, उत्सवों तथा दूतीवचन, कुलटाओं के विस्मयजनक चरित्रों के साथ–साथ गाढान्धकार, प्रचण्ड, पवन आदि लोकातिशायी तत्वों की चर्चा से महाकाव्य संयुक्त होना चाहिए। इसका कथानक सब प्रकार की वृत्तियों से सम्वन्वित हो, सब प्रकार के भावों से संकलित हो, रीति तथा रस से संयुक्त हो तथा अलंङ्कारों से पुष्ट हो। इस प्रकार के गुणों से संयुक्त महाकाव्य का रचयिता महाकवि कहलाता है। इस महाकाव्य में विविध वाक् कौशलों की प्रधानता होते हुए भी इसकी आत्मा तो रस ही है। अतः कवि व्यर्थ के वाग् विक्रम को छोड़कर इसका कलेवर रससिक्त बनाऍ और नायक की कथा चर्तुवर्ग की फल प्राप्ति को दर्शायें।

(1) अग्निपुराण 337 / 24–28

कल्पोऽति निन्दितस्तस्मिन्विषेषानादरः सताम्।
नगरावर्ण व शैलर्तुचन्द्रार्काश्रम पादपैः।।
उद्यान सलिल क्रीडामधुपानरतोत्सवैः।
दूती वचनविन्यासैरसतीचरिताद् भुतैः।।
तमसा मरुताऽप्यन्यैविभावैरतिनिर्भरैः।
सर्ववृत्ति प्रवृतं च सर्वभाव प्रभावितम्।।
सर्वरीतिरसैः स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः।
अतएव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः।।
वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।
प्रथक्प्रयत्नं निर्वर्त्य वाग्विक्रमाणि रसाद्वपः।।[1]

जिसमें केवल एक ही छन्द का प्रयोग हो जो कौशिकी वृत्ति के प्रयोग द्वारा कोमल बनाया गया है। उसे कलापक कहते हैं। इसमें प्रवास और पूर्वराग का समावेश होना चाहिए। 'सविशेषक' उसे कहते हैं, जिसमें संस्कृत भाषा अथवा किसी अन्य भाषा में काव्य सामग्री की प्राप्ति हो। 'कुलक' नामक काव्य में विभिन्न छः छन्दों का प्रयोग होता है। इसे संदानिक भी कहते हैं। 'मुक्तक' रचना वह होती है, जिसका प्रत्येक श्लोक सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ होता है।

चर्तुवर्गफलं विष्वग्व्याख्यात् नायकाख्यया।
समान वृत्तिर्निव्यूढः कौषिकीवृत्तिकोमलः।।
कलापोऽत्र प्रवासः प्रागनुरागह्योरसः।
सविशेषकं प्राप्त्यादि संस्कृतेनतेरेण च।।
श्लोकैरनकेः कुलकं स्यात्संदानितकानि तत्।
मुक्तकं श्लोक एकै कश्चमत्कार क्षमः सताम्।।

---

(1) अग्निपुराण 337/29–33

'कोश' नामक काव्य शिरोमार्ण कवियों की प्रभावशाली सूक्तियों का संग्रह होता है। इसमें रस का प्रभाव सतत् प्रवाहमान होता है। चतुर सहृदयों को यह अति प्रिय होता है। इसमें रसाभाव और उपशम की शक्ति होती है और एक ही सर्ग में भिन्न–भिन्न छन्दों का प्रयोग रहता है। इसके भी दो भेद हैं। मिश्रित और प्रकीर्णक। प्रथम तो श्रव्य होता है और अभिनेय भी, और प्रकीर्ण में एक प्रकार की उक्तियॉ होती हैं।

सूक्ताभिः कविसिंहानां सुन्दराभिः समन्वितः।
कोशो ब्रह्मपरिच्छिन्नः स विदग्धाय रोचते।।
आभासोपमशक्तिश्च सर्गे यद्भिन्नवृतता।
मिश्रं वपुरिति ख्यामं प्रकीर्णामिति च द्विधा।।
(श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्ण सकलोक्तिभिः)

अग्निपुराण में संस्कृत काव्य के निर्माण की प्रेरणा रामायण तथा महाभारत जैसे महनीय राष्ट्रीय महाकाव्यों के अध्ययन से प्राप्त हुई हैं। इसमें संशय करने का स्थान नहीं है। रामायण तथा महाभारत के पाश्चात्य पद्धति से एपिक के अन्तर्गत होने पर भी उनकी रचना शैली तथा विषय की विवेचना में नितान्त पार्थक्य है। महाकाव्य के विकास में वेद से भी परम्परा स्फूर्ति प्राप्ति का संकेत हमें यत्र तत्र उपलब्ध होता है। वेदों में देवस्तुति के अतिरिक्त तत्कालीन दानशील उदार राजाओं की श्लाघनीय स्तुतियॉ भी उपलब्ध होती हैं। लक्ष्य के आधार पर लक्षण की कल्पना की जाती है। इसनीति के अनुसार रामायण तथा कालिदासीय महाकाव्यों के विश्लेषण करने से आलोचकों ने महाकाव्य के शास्त्रीय रूप का अनुगमन किया है। तथा अलंकारिकों ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उसके लक्षण प्रस्तुत किये हैं। इन अलंकारिकों में दण्डी सर्वप्राचीन हैं। जिनका महाकाव्य का लक्षण सर्वप्राचीन माना जाता है। उनके अनुसार महाकाव्य की रचना सर्गों में की जाती है। उसमें एक ही नायक होता है जो देवता होता है। अथवा धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय

होता है। वीर श्रृंगार अथवा शान्त इनमें से कोई रस मुख्य अंङ्गी होता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए और न बहुत छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए। वृत्त को अलंकृत करने के लिए सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है। महाकाव्य का मुख्य उद्‌देश्य धर्म तथा न्याय की विजय तथा अधर्म तथा अन्याय का विनाश होना चाहिए।

अध्याय

द्वितीय

(नाटक निरूपण)

नाट्यशास्त्र की नाट्योत्पत्ति

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी शास्त्रीय विषयों का उद्गम वेदों को माना है और उनका सम्बन्ध देवों से जोड़ा जाता है। सम्भव यह है कि दैवी शक्तियों के आर्शिवादों की परिकल्पना अथवा पवित्रता प्रमाणित करने की दृष्टि से उनका सम्बन्ध देवों से स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा महत्व नहीं प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नाट्योद्गम का इतिहास सम्भवतः विश्व में प्राप्त नाट्यकला के उद्गम का सर्वाधिक प्राचीन विवरण है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेतायुग के प्रारम्भ में जब लोग काम, क्रोध,लोभ मोह, ईर्ष्या एवं सुख–दुखःदि से अभिभूत हो गये थे; उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर कहा कि भगवन् हम लोग ऐसा क्रीडनीयक(मनोरंजन) चाहते हैं, जो दृश्य एवं श्रव्य दोनो हो तब ब्रह्मा ने योग का आश्रय लेकर चारों वेदों का स्मरण कर यह संकल्प किया कि ''मैं इतिहास सहित एक ऐसे नाट्य नामक पंचम वेद की रचना करता हूँ जो धर्म, अर्थ एवं यश की प्राप्ति कराने वाला हो, उपदेश के योग हों, ज्ञान संग्रह से युक्त हो, भावी जगत् के लिये समस्त कर्मों का पथ प्रदर्शक हो। समस्त शास्त्रों के अर्थों से युक्त हो तथा(शिल्पों) कलाओं का प्रवर्तक हो।

नाट्य रचना के अनन्तर ब्रह्मा ने इन्द्र के अनुरोध पर भरत मुनि को नाट्य की शिक्षा देकर अपने पुत्रों के साथ नाट्य का प्रयोग करने का आदेश दिया। तब भरत मुनि ने ब्रह्मा के आदेश से अपने शत् पुत्रों को नाट्य कला में शिक्षित कर भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों पर आश्रित अभिनय किया। तब ब्रह्मा ने उन्हें कौशिकी वृत्ति के भी संयोजन का आदेश दिया। किन्तु नारी पात्रों का अभाव होने से भरत ने कौशिकी वृत्ति के संयोजन में असमर्थता दिखाई तब ब्रह्मा ने अप्सराओं का सृजन कर उन्हें कौशिकी वृत्ति के अभिनय का भार देकर भरत मुनि को सौंप दिया। उसके बाद भरत ने इन्द्र

ध्वज(महोत्सव) इन्द्रमहः के शुभ अवसर पर ''दैत्य–दानव नाशन'' नामक नाटक प्रस्तुत किया, जिसमें दानवों के पराजय की कथा निबद्ध थी। इस प्रयोग को देखकर दैत्य दानव क्रुद्ध होकर अभिनय में विघ्न डालने लगे तब ब्रह्मा ने दैत्य दानवों को समझा बुझाकर शान्त करने का प्रयास किया। किन्तु वे शान्त न हुये। तक ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को सर्वलक्षण सम्पन्न नाट्य मण्डप के सृजन करने का आदेश दिया और उन्होंने एक भव्य नाट्य मण्डप का निर्माण किया और नाट्य मण्डप के रक्षा के लिये देवताओं को नियुक्त किया। इसके बाद ब्रह्मा ने भरत को अमृत मंथन नामक समवकार दिखाने के लिये आदेश दिया। तब भरत ने हिमालय पर्वत के रमणीय रजत श्रङ्ग पर पूर्वरङ्ग बिधान के साथ अमृत मंथन नामक समवकार का प्रर्दशन किया यहीं पर शिव के आदेश से भरत ने त्रिपुरदाह नामक डिम का भी अभिनय किया।

नाट्योत्पत्ति की कथा का विस्तार नाट्यशास्त्र के अध्ययन से मिलता है। इस सन्दर्भ में अनेकों कथाओं का वर्णन मिलता है। प्रथम कथा के अनुसार भरतपुत्रों को अपने कौशल पर अभिमान हो गया था। अतः उन्होंने अपने नाट्य प्रर्दशन में मुनियों का अपमान कर दिया था। इस पर ऋषियों ने उन्हे शाप दे दिया कि नाट्य के अभिनेता शूद्र हो जाय और समाज में उन्हें प्रतिष्ठा न मिले।[1] तब से नाट्य अभिनेता समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते।

---

(1) नाट्यशास्त्र(गायकवाड़) 37/40

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ एवं नाट्योत्पत्ति

नन्दिकेश्वर के अभिनय दर्पण में भी नाट्योत्पत्ति की कथा किंचित परिवर्तन के साथ नाट्यशास्त्र के अनुसार ही वर्णित है। नन्दिकेश्वर के अनुसार, ब्रह्मा नें ऋक, यजुः, साम और अथर्व से क्रमशः पाठ्य, अभिनय, गीत और रसों को ग्रहण कर नाट्यशास्त्र का सृजन कर भरत मुनि को दिया। भरत ने गन्धर्व एवं अप्सराओं के साथ शिव के समक्ष उस नाट्य का प्रयोग प्रस्तुत किया। शिव ने भरत के द्वारा प्रयुक्त उस अभिनय में उद्धत प्रयोगों को देखकर अपने गण तण्डु के द्वारा भरत को नृत्य की शिक्षा दी। तण्डु के द्वारा प्रयुक्त वह नृत्य ताण्डव कहलाया। बाद में पार्वती ने बाणासुर की दुहिता ऊषा को 'लास्य'(सुकुमार नृत्य) में दीक्षित किया और ऊषा ने व्रजवासिनी गोपियों को लास्य नृत्य की शिक्षा दी। बाद में गोपियों द्वारा सौराष्ट्र की वनिताओं द्वारा भिन्न–भिन्न प्रदेशों की युवतियों में प्रचलित हुआ।[1]

भरत तथा अन्य नाट्याचार्य नाट्य के उद्गम का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं। शारदातनय नाट्य का उद्गम शिव को मानते हैं।

तार्किक दृष्टि से देखा जाय तो नाट्य एवं नृत्य के उद्भव का सम्बन्ध शिव ये ही रहा है। वे अपने विविध रूपों के द्वारा नाट्य एवं नृत्यकला को चतुर्दिक मुखरित करते हैं। तभी तो नाट्य की व्यापकता और भी अलौकिक हो उठती है। अतः वैदिक और लौकिक भावभूमि के परिपेक्ष्य में शिव को नाट्यवेद का सर्जक माना गया है।

---

(1) अभिनय दर्पण 2/8

नाट्योत्पत्ति विषयक आधुनिक मान्यताएँ

संवाद नाट्य की वह महत्वपूर्ण विधा है जो अभिनय की एक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करता है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त पाये गये जो संवाद सूक्त कहे जाते हैं। जिसमें नाट्य शैली का संवाद (कथोपकथन) उपलब्ध हैं। डा0 कीथ ने इन संवादों का कथन किया है, किन्तु लगभग 15 सूक्त ऐसे है जिनका संवाद रूप स्पष्ट है। जिनमें कुछ सूक्त महत्वपूर्ण

(1) यम–यमी संवाद (2) पुरुरवा–उर्वशी संवाद (3) इन्द्र–मरुत् संवाद (4) विश्वामित्र–नदी संवाद (5) इन्द्र–इन्द्राणी–वृषाकपि संवाद

मैक्समूलर इन्द्र–मरुत् सूक्त के प्रसंग में अपना विचार प्रस्तुत करते हैं, कि मरुत सूक्त को अभिनय करने के लिए कतिपय ऋषि इन्द्र का प्रतिरूपण करते हैं।

श्रोडर महोदय का कथन है कि ऋग्वेद के ये सूक्त संवादात्मक और कुछ एकालाप(स्वगतकथन) वैदिक रहस्यों के अवशेष मात्र हैं। जो बीजरूप में भारोपीय काल के ऋणी हैं।

डा0 हर्टल के अनुसार– ये वैदिक संवाद सूक्त रहस्यात्मक अभिनय हैं। क्योंकि सूक्त हमेशा गाये जाते रहे हैं। एक ही व्यक्ति के द्वारा विभिन्न पात्रों द्वारा कहे हुए संवादों का गान करने में एक अस्पष्टता का भय रहता है।

ओल्डेन वर्ग, विशेल, प्रो0 विण्डिश प्रभृति विद्वानों के अनुसार इन संवाद सूक्तों में गद्य–पद्य दोनों का मिश्रण रहा होगा, जिसे नाटक के गद्य–पद्यात्मक रूप का स्रोत माना जा सकता है।

शैव सम्प्रदाय और नाट्योत्पत्ति

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध वृत्तों से ज्ञात होता है कि ताण्डव और लास्य नृत्यों का सम्बन्ध क्रमशः शिव और पार्वती से रहा है।[1] कहा जाता है कि एक समय सन्ध्याकाल में परम शिव हिमालय के रमणीय रजतश्रङ्गार पर नृत्य कर रहे थे कि आनन्द विभोर होकर पार्वती भी नाचने लगी थी। शिव का वह नृत्य ताण्डव था। और पार्वती का लास्य।

नाट्योत्पत्ति एवं अन्य मत

पुत्तालिका नृत्यवाद– जर्मन विद्वान डा0 विशेल पुत्तालिका नृत्य से नाट्य का उद्गम मानते हैं। उनका कहना है कि पुत्तालिका नृत्य सर्वप्रथम भारत में प्रचलित हुआ और यहीं से यूनान आदि देशों में पहुंचा। पुत्तालिका नृत्य का प्राचीनतम विवरण हमें संस्कृत साहित्य में मिलता है। कथासरित्सागर के अनुसार, मयदानव की पुत्री सोमप्रभा ने अपनी सहेली कलिगप्रभा को ऐसी पुत्तलियॉ भेंट की थीं जो बोल सकती थीं, नृत्य कर सकती थीं , उड़ सकती थीं। जल तथा फूल माला भी ला सकती थीं।[2]

---

(1) नाट्यशास्त्र(गायकवाड़) पृ0 249–251

(2) कथासरित्सागर सन्दर्भ संस्कृत नाटक(कीथ) पृ0 44

छाया नाट्यवाद– नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान डा0 ल्यूडर्स एवं कोनो महोदय छायानाट्य से नाट्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन काल में छायानाट्यों के अभिनय का संकेत मिलता है। पातांजल महाभाष्य में नाटकों के प्रसंङ्ग में सौमिकों का नाम आया है। ये मूक अभिनय का प्रदर्शन करते थे। इन मूक छाया अभिनयों को यवनिका के पीछे उपस्थित पात्रों की मूक छायाओं के माध्यम से कथा का प्रदर्शन किया जाता था।इससे ज्ञात होता है कि नाट्य के पूर्व यह कला प्रचलित थी और कालान्तर में इसी नाट्य का उदय हुआ।[1] उन्होंने महाभारत [2] में उल्लिखित 'रूपजीविन' तथा बाराहमिहिर [3] का रूपजीवी शब्द छायानाट्य के अर्थ में प्रयुक्त माना गया है किन्तु नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में छाया शैली के नाट्य का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। उत्तर रामचरितं नाटक में सीता के छायाके प्रवेश का विवरण प्राप्त होता है।[4]

---

(1) संस्कृत नाटक (कीथ) पृ0 45/49

(2) महाभारत 7/259/4

(3) बृहत्संहिता 5/74

(4) उत्तररामचरितं, तृतीय अंक

लोकोत्सव एवं लोकनृत्य– नाट्य के उद्गम में लोक परम्पराओं, लोकोत्सवों का कम दायित्व नहीं रहा है। लोक परम्पराओं में रामलीला, कृष्णलीला, होलिकोत्सव, दुर्गापूजन महोत्सव आदि धर्म से अनुप्रमाणित रहीं हैं। इन्हीं से नाट्य की प्रेरणा मिली होगी। प्रातःकाल सुनहरे वस्त्र पहनी हुई, इठला–इठला कर नृत्य करती हुई ऊषा का अभिनय, झूमती मस्त हवाओं का नर्तन, फुदक–फुदक कर चहकती हुई चिड़ियों का नृत्य संगीत, कमलवन में इठलाते इठलाते हुए भ्रमरों के मधुर गीत, केका ध्वनि के साथ मयूरों का नर्तन प्रकृति वधू के मनोहारी हाव–भावों को देखकर स्वभावतः ही मनोमयूर नाच उठता है। ऐसे प्राकृतिक वातावरण से नाट्य एवं नृत्य की उत्पत्ति हुई है। सर्वप्रथम उसका रूपलोकाभिनय एवं लोकनृत्य रहा होगा तथा बाद में संस्कृत एवं परिष्कृत होने के बाद उसे शास्त्रीय रूप मिला है।

पातांजल महाभाष्य में उल्लिखित 'कंस वध' नाटक का मूल प्राकृतिक परिवर्तन ही प्रतीत होता है।[1] क्योंकि इस नाटक के अभिनय में कृष्ण के अनुयायी लाल कपड़े पहनते थे और कंस के अनुयायी काले कपड़े पहनते थे। लाल कपड़े बसन्त के प्रतीक माने जाते हैं, काले कपड़े हेमन्त के प्रतीक माने जाते हैं।

---

(1) महाभाष्य 3/1/27

भारतीय नाट्यकला के उद्गम के सम्बन्ध में विविध मत निदर्शित किये गए और उनकी समीक्षा की गई, इससे यह पता चलता है कि प्रारम्भ में मानव की क्रीडा का अनुकरण कर स्वाभाविक प्रवृत्ति ने नाट्यकला को जन्म दिया जिसके मूल में प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव अवश्य रहा है।

वस्तुतः नाट्यकला का उद्गम सर्वप्रथम इन्ही लोकाभिनयों एवं लोकनृत्यों के रूप में हुआ और उन पर प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव भी रहा क्योंकि नाट्योद्गम के सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों द्वारा नाट्य का उद्गम उन सभी उपर्युक्त मतों के अनुसार के पहले हो चुका था।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये लोकाभिनय, लोकनृत्य या लोकोत्सव ही नाट्यकला के स्रोत रहे हैं। इन्हीं से नाट्य की सृष्टि हुई है। अग्निपुराण में वर्णित नाट्य विषय नाट्यशास्त्र से साम्य रखता है। इसी समानता को देखकर काव्यदर्श के लेखक महेश्वर ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादुकाव्य की प्रवृत्ति के द्वारा अलङ्कार शास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिये ही अग्निपुराण से उद्धत कर अलङ्कार शास्त्र का प्रणयन किया।

सुकुमारन् राजकुमारन् स्वादुकाव्य प्रवृत्ति द्वारा अलंङ्कार शास्त्रे प्रवर्त्तयितु मग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः सङ्क्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान् [1]

व्यासकृत अग्नि के ही काव्यशास्त्र विषयक वे अध्याय होंगे जिससे लेकर भरत ने नाट्य संग्रह बनाया है। अग्निपुराण में यह एक वैशिष्ट्य भी बतलाया गया है कि इसमें समस्त विद्याओं का सार है।

विद्यासारं पुराणं यत् सर्व सर्वस्य कारणम्। [2]

अतः अग्निपुराण से पूर्व भरत कृत नाट्यशास्त्रकी सत्ता सिद्ध होती है। मेरे विचार से नामोल्लेख से यह कल्पना कर लेना कि नाट्यशास्त्र अग्निपुराण से पूर्व विद्यमान था।

---

(1) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास– काणे पृ0 4

(2) अग्निपुराण 1/13

'नाट्य' शब्द 'नट्' धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है– नटन। नाट्य नृत्य का निकटवर्ती है, किन्तु नृत्य की अपेक्षा नाट्य में सर्वाङ्गीणता रहती है। धनंजय ने अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहा है।

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्"

अवस्था की अनुकृति आङ्गिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनयों से की जाती है। इस अवस्था अनुकृति में नटों के द्वारा अनुकार्य रामादि के साथ तादात्मय स्थापित किया जाता है। यही नाट्य दृश्य अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने के कारण रूपक कहलाता है। नाट्य दर्पणकार के अनुसार रूपित किये जाने के कारण ही नाटक आदि को रूपक कहते हैं।

''रूप्यन्ते व्यभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि''.[1]

इस प्रकार रूप और रूपक दोनों शब्द नाट्य के वाचक हैं, भरत ने नाट्य शास्त्र में नाट्य के लिए रूप शब्द का प्रयोग किया है।

धनंजय ने नाटक को रूपक की संज्ञा प्रदान की है। रूपक मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं– मुख्य और गौण। मुख्य रूप से उनकी संज्ञा रूपक है और गौण रूप से उपरूपक। इनमें अभिनय प्रधान रूपक को 'रूपक' और नृत्य प्रधान को 'उपरूपक' या नृत्यरूपक कहते हैं। नाट्य शास्त्र में रूपक के दस भेद बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) नाटक	(2) प्रकरण	(3) भाण	(4) व्यायोग्र	(5) समवकार
(6) वीथी	(7) प्रहसन	(8) डिम	(9) ईहामृग	(10) अंङ्क

---

(1) दशरूपक प्रथम प्रकाश/7

भरतमुनि के पश्चात् अग्निपुराण में ही नाट्य चर्चा है। अग्निपुराण में नाट्य के सत्ताईस भेदों का निरूपण किया गया हैं

(1) नाटक (2) प्रकरण (3) डिम (4) ईहामृग (5) समवकार (6) प्रहसन (7) व्यायोग (8) भाण (9) वीथी (10) अंड्क (11) त्रोटक (12) नाटिका (13) सदृक (14) शिल्पक (15) संलापक (16) दुर्मल्लिका (17) प्रस्थान (18) भाणिका (19) भावि (20) गोष्ठी (21)हल्लीशक (22) काव्य (23) श्री गदित (24) नाट्यरासक (25) उल्लापक (26)प्रेड्ण

परिवर्ती आचार्यों ने इनमे से आदि के दस भेदों को रूपक और शेष सत्तरह भेदों को उपरूपक माना गया है। विश्वनाथ ने तो अग्निपुराण का ही अनुसरण कर दस रूपक और अट्ठारह उपरूपक माने हैं। उन्होंने अग्निपुराणोक्तक सत्तरह उपरूपकों में 'विलासिका' नामक एक उपरूपक भेद जोड़कर उपरूपकों की संख्या अट्ठारह गिनायी है। सागरनन्दी ने अग्निपुराण के सत्तरह उपरूपकों को ही स्वीकार किया है।

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार, रूपक के बारह भेदों का वर्णन किया है। जो इस प्रकार हैं–

नाटक, प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, उत्सृष्टकाड्ग, भाण, ईहामृग, वीथी, डिम, समवकार, व्यायोग।

विष्णुधर्मोत्तर में नाटिका और प्रकरणी को रूपक के अन्तर्गत माना गया है। अन्य आचार्य उन्हें उपरूपक मानते हैं। विष्णुधर्मोत्तर में नायिका के आठ प्रकार बताये गये हैं।

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रूपक के बारह भेद किए हैं। धनन्जय ने रूपक के दस भेद और एक नाटिका भेद किए हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने ग्यारह भेद दशरूपक के अनुसार और बारहवॉ भेद प्रकरणी स्वतंत्र किया है। इस प्रकार उनके अनुसार रूपक के बारह भेद कहे गये हैं।

(1) नाटक (2) प्रकरण (3) नाटिका (4) प्रकरणी (5) व्यायोग (6) समवकार (7) डिम (8) भाण (9) प्रहसन (10) अङ्क (11) ईहामृग (12) वीथी

"दशधैव रसाश्रयम्"[1]

रस पर आश्रित होने वाला यह रूपक दस प्रकार का ही होता है। धनन्जय के अनुसार रूपक के दो ही भेद होते हैं– (1) शुद्ध (2)संकीर्ण

वस्तु नेता और रस के आधार पर एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले दस ही रूपक हैं। जो इस प्रकार हैं–

नाटक– नाटक इतिवृत्ति प्रख्यात होना चाहिए, कल्पित नहीं। उसका नायक प्रख्यात एवं उदान्त कोई राजा, राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए। उदान्त पद उपलक्षण मात्र है। उदान्त पद से यहॉ धीरोदान्त, धीरललित, धीरप्रशान्त इन नायकों का ग्रहण होता है। अर्थात् नाटक में चारों प्रकार के नायक हो सकते हैं। श्रंगार एवं वीर ही अङ्गी रस हो सकते हैं। नाटक के इतिवृत्ति में पॉचों कार्यावस्थाओं, पॉचों अर्थप्रकृतियों और पॉचों सन्धियों, चौसठ सन्ध्यङ्गों तथा छत्तीस लक्षणों की योजना की जानी चाहिए।

प्रकरण– जहॉ पर नेता (नायक), फल और इतिवृत्त विधान व्यस्त या समस्त रूप से कवि कल्पित होते हैं। उसे प्रकरण कहते हैं। प्रकरण की रचना विधान नाटक के समान होता है। इसमें श्रंगार रस की योजना है। रसार्णव सुधाकर एवं भावप्रकाशन में प्रकरण के तीन भेद बताये गए हैं। शुद्ध, धूर्त एवं मिश्र। जब प्रकरण की नायिका कुलजा(कुलीन स्त्री) होती है तो शुद्ध प्रकरण होता है।

---

(1) दशरूपक प्रथम प्रकाश सूत्र/10/8

भाण– भाण एकांङ्की रूपक है। इसका इतिहास कल्पित होता है। जहॉ पर नायक विट या धूर्त आकाशभाषित के द्वारा अपने अथवा किसी दूसरे (गणिका आदि) के चरित का प्रकाशन करता है। उसे भाण नामक रूपक कहते हैं।

शारदातनय के अनुसार भाषा और कथावस्तु के आधार पर भाण के नौ भेद होते हैं। भाषा–भेद के कारण इसके भेद होते हैं– शुद्ध, संङ्कीर्ण और चित्र। जिसमें केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाता है। वह शुद्ध भाण कहलाता है। यदि संकीर्ण भाषा का प्रयोग होता है तो संङ्कीर्ण भेद होता है। और यदि चित्र विचित्र विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है तो चित्र भाण होता है।

व्यायोग– व्यायोग एक शुद्ध विषयक है। जिसमें अनेक पुरुष चारों ओर से कार्य सम्पादन के लिए प्रयत्न करते हैं। उसे व्यायोग कहते हैं। धनंजय के अनुसार इसका नायक मनुष्य होता है। इसमें स्त्री पात्रों की संख्या बहुत कम और पुरुष पात्रों की संख्या अधिक होती है। व्यायोग में गर्भ और विमर्श सन्धियॉ नहीं होती हैं।

समवकार– संङ्गत(मिले हुए) अथवा अवकीर्ण(बिखरे हुए) त्रिवर्ग के पूर्व प्रसिद्ध उपायों के द्वारा जिसका निबन्धन किया जाय उसे समवकार कहते हैं।

धनिक के अनुसार जिसमें अनेक व्यर्थ चित्र भलीभॉति निबद्ध किये जाते हैं। उसे समवकार कहते हैं। समवकार के बारह नायक होते हैं। उन सबके फल अलग–अलग होते हैं। इसमे तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के श्रंङ्गार और तीन प्रकार के विद्रव होते हैं।

डिम– डिम नाटक का निकटवर्ती रूपक है। अभिनव गुप्त ने डिम को बिम्ब और विद्रव(उपद्रव) का पर्याय माना है। इसमें माया, इन्द्रजाल, संङ्ग्राम, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, निर्घात्, युद्ध, नियुद्ध आदि वर्णनों का तथा यक्ष, राक्षस, पिशाच, देवता, भूत, प्रेत आदि पात्रों का बाहुल्य रहता है। डिम का

इतिवृत प्रख्यात(इतिहास प्रसिद्ध) होता है। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष सन्धियॉ होती हैं।

कोहल के अनुसार, इसमें दो अंङ्क हो सकते हैं। कुछ नाट्याचार्यों का कथन है कि अंङ्क तो नाटकीय रूपक प्रबन्धों का एक विभाग है, अतः इसका नाम उत्सृष्टिकाङ्क ही उचित है।

प्रहसन– यह एक हास्य व्यंग प्रधान रूपक है। जहॉ विट, चेट आदि के पाखण्डपूर्ण चरितों का उपहासात्मक चित्रण हो उसे प्रहसन कहते हैं। प्रहसन का उद्देश्य सामाजिकों को पाखण्डियों आदि धूर्तों से विमुख करना है।

नाट्यशास्त्र–अग्निपुराण एवं नाट्यदर्पण के अनुसार प्रहसन के दो भेद किये हैं– शुद्ध और सङ्ंकीर्ण। किन्तु दशरूपक के अनुसार तीन भेद होते हैं–शुद्ध, विकृत एवं संङ्कीर्ण।

भरत के अनुसार प्रहसन के दो भेद हैं। उन्होने विकृत का संङ्कीर्ण में अर्न्तभाव माना है। संङ्कीर्ण प्रकरण में वीथ्यङ्गों का मिश्रण रहता है।

ईहामृग–जिसमें नायक मृग के समान एक मात्र स्त्री के लिए ईहा अर्थात् चेष्टा करता है उसे ईहामृग कहते हैं। जहॉ पर नायक मृग के समान अलम्भ नायिका को पाने की ईहा(कामना) करता है। उसे ईहा मृग कहते हैं। ईहा मृग का नायक दिव्य अथवा प्रख्यात मानव होता है और वह दिव्य नारी की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है।

वीथी– वीथी का अर्थ है गली या मार्ग। वीथी(गली) के समान टेढे–मेढे वक्रोक्ति मार्ग से जाने अथवा संध्यङ्गों की पंक्ति होने से इसे वीथी कहते हैं। नाटकादि सभी रूपकों के उपयुक्त होने से त्रयोदश अंङ्कों के प्रवेश के कारण वक्रोक्त्यादि चमत्कार से परिपूर्ण मार्ग विशेष से लक्षित होने से वीथी कहते हैं।

कीथ ने वीथी का अर्थ माला किया है। उनका कहना है कि इसमें कई रस माला की तरह गुथे रहते हैं। इसलिये इसे वीथी कहते हैं। वीथी कुछ बातों

में भाण के समान होता है। किन्तु धनंजय, विश्वनाथ और शारदातनय इसमें श्रंङ्गार रस की प्रधानता स्वीकार करते हैं।

प्रकीर्ण–रूपक

नाटिका–नाट्यशास्त्र में दस रूपकों के अतिरिक्त नाटी नामक एक भेद का उल्लेख है, जिसे परिवर्ती काल में नाटिका के नाम से अभिहित किया गया है। भरत के अनुसार 'नाटिका' नाटक और प्रकरण के मिश्रण से निर्मित होती है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कवि कल्पित हो सकता है। और नायक नाटक के समान प्रख्यात और धीरललित होता है। उसकी नायिका नृपवंशजा एवं मुग्धा होती है। नाट्यदर्पण के अनुसार देवी और कन्या के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध के आधार पर नाटिका के चार भेद होते हैं–

(1) देवी प्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा

(2) देवी प्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा

(3) देवी अप्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा

(4) देवी अप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा

नाटिका में चार अंङ्क होते हैं। इसमें स्त्री पात्रों की अधिकता होती है और श्रंङ्गार प्रधान(अंङ्गी) रस होता है। कौशिकी वृत्ति की प्रधानता होने से इसमें गीत, नृत्य, पद्य आदि की प्रचुरता रहती है।

प्रकरणी या प्रकरणिका–नाटिका के समान प्रकरणी या प्रकरणिका का भी उल्लेख कुछ आचार्यों ने रूपक के अर्न्तगत किया है। प्रकरणिका की रचना नाटिका के समान होती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें इतिवृत्त कल्पित और नायक कोई ब्राह्मण या वणिक होता है।

धनंजय ने नाटिका को ही संङ्कीर्ण भेद में परिगणित किया है और प्रकरणिका का अर्न्तभाव कर देते हैं। नाट्य दर्पणकार ने नाटिका और प्रकरणिका को स्वतंत्र रूपक भेद मानकर द्वादश रूपकों की परिकल्पना की है।

भरत दस या बारह रूपकों की कल्पना करते हैं। किन्तु भोज, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र द्वादश रूपक मानते हैं। धनंजय, विश्वनाथ आचार्यों ने दस ही रूपक के भेद माने हैं। कुछ आचार्य सट्टक और त्रोटक को स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या बारह बताते हैं।

उपरूपक

भरत रूपक के दस या ग्यारह भेद बताये हैं किन्तु कोहलादि आचार्यों ने रूपकों के अतिरिक्त उप रूपकों की भी कल्पना की है। नाट्य शास्त्र में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि कोहल उपरूपकों के जन्मदाता हैं। कोहल के अनुसार प्राचीन काल में उपरूपकों की दो परम्परायें प्रचलित हैं–

(1) साहित्यिक परम्परा

(2) लोक परम्परा

अग्निपुराणकार ने सत्ताईस रूपकों का वर्णन किया है। इनमें से दस रूपक की श्रेणी में आते हैं और सत्तरह उपरूपक माने जाते हैं।

नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा ।
ज्ञेयः समवकारष्च भवेत्प्रहसनं तथा।।
व्यायोग भाण वीथ्यङ्कत्रोटकान्यथ नाटिका।
सट्टकं षिल्पकः कर्णा एको दुर्मल्लिका तथा।।
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठी हल्लीषकानि च।
काव्यं श्री गदिनं नाट्यरासकं रासकं तथा।।[1]

शारदातनय ने भाव प्रकाशन में बीस उपरूपकों का वर्णन किया है। कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार बीसों को नृत्यात्मक कहते हैं।

---

(1) अग्निपुराण 338 / 1.3

विश्वनाथ कविराज ने उपरूपक के अट्ठारह भेद माने हैं। इस प्रकार उपरूपकों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। इन उपरूपकों में सट्टक और त्रोटक को कुछ आचार्यों ने रूपक के अर्न्तगत परिगणित किया है। भोज ने नाटिका और सट्टक को रूपक की श्रेणी में गिनकर बारह रूपकों की परिकल्पना की है। विश्वनाथ ने इन्हें उपरूपकों के अर्न्तगत परिगणित किया है। उपरूपकों का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

(1) **नाटिका और प्रकरणी—** इसका विवेचन पहले संङ्कीर्ण रूपक के भेद के अर्न्तगत किया जा रहा है।

(2) **त्रोटक या तोटक—** त्रोटक को तोटक भी कहते हैं। विश्वनाथ ने त्रोटक और शारदातनय ने तोटक का उल्लेख किया है। त्रोटक में पॉच, सात, आठ और नौ अंङ्क भी होते हैं। इसमें देव और मनुष्य दोनों के जीवन से सम्बन्धित इतिवृत्ति की योजना होती है। इसके प्रत्येक अंङ्क में विदूषक की उपस्थिति होने से इसमें श्रंङ्गार रस की प्रधानता होती है।

(3) **सट्टक—**सट्टक को अग्निपुराण में 'शाटक' कहा गया है। सट्टक नाटिका के समान होता है। किन्तु दो बातों में उससे भिन्न है। नाटिका में कई भाषाओं का प्रयोग होता है। जबकि सट्टक में एक ही प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है। इसका उदाहरण कर्पूरमंजरी है।

(4) **गोष्ठी—**एक एकांङ्की रूपक है। इसमें एक अंङ्क होता है और इसका कथानक कवि कल्पित होता है। इसमें काम श्रंङ्गार का वर्णन होता है। गोष्ठी में नौ या दस साधारण श्रेणी के पुरुष पात्र और पॉच या छः स्त्री पात्र होते हैं। इसमें उदात्तवचन नहीं पाये जाते हैं। इसका उदाहरण रैवतमदनिका है।

(5) **रासक—** यह एकांङ्की उपरूपक है। इसमें पॉच पात्र होते हैं। इसमें कौशिकी एवं भारती वृत्तियॉ होती हैं और निर्वहण सन्धियों की योजना होती है। इसमें भाषा और विभाषा दोंनो का बाहुल्य रहता है। इसमें सूत्रधार से रहित एक

अंङ्क होता है। इसकी नायिका कोई प्रख्यात नारी होती है। नायक कोई मूर्ख पुरुष होता है।

अभिनव भारती के अनुसार, रासक नृत्यात्मक होता है। इसमें अनेक नर्तकियों की योजना होती है और यह चित्र विचित्र ताल लय से सम्वन्वित होता है। तथा मसृण एवं उद्धत होता है।

अनेक नर्तकी योज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आ चतुश्षश्टि युगलाद्रासकं मसृशोद्धतम्।।[1]

भोज एवं रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार रासक एक विशेष प्रकार का नृत्य है। जिसमें सोलह, बारह या आठ स्त्रियॉ होती हैं जो पिण्डी बन्ध आदि रूपों में नृत्य करती हैं।

शोडशं द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डी बन्धादि विन्यासै रासकं तदुदाहृतम्।।[2]

(6) **नाट्य रासक–** नाट्य रासक एक अंक का होता है। इसमें ताल और लय की पर्याप्त स्थिति होती है। इसका नायक उदान्त प्रकृति का होता है और उसका सहायक पीठमर्द उपनायक होता है। इसमें श्रंङ्गार सहित हास्य रस प्रधान(अंङ्गी) रस होता है। इसकी नायिका वासकसज्जा होती है और लास्य के दस अंङ्ग इसमें विद्यमान रहते हैं।[3]

---

(1) अभिनव भारती भाग 1 पृ0 181
(2) नाट्य दर्पण पृ0 191
(3) साहित्य दर्पण 6/277–279

(7) **प्रस्थान या प्रस्थानक–** प्रस्थानक का नायक कोई दास होता है और उसका उपनायक उससे भी हीन होता है। इसके दो अंङ्क होते हैं। ताल, लय आदि संगीतात्मक बिलास प्रचुर मात्रा में होते हैं। इसके उद्दिष्ट अर्थ(विषय) की समाप्ति मदिरापान के संयोग से होती है।[1]

(8) **उल्लाप्य या उल्लोप्यक–** उल्लाप्य एकांङ्की उपरूपक है। कुछ आचार्यों के अनुसार इसमें तीन अंङ्क होते हैं। उल्लाप्य का नायक उदान्त और इतिवृत्त देवता विषयक होता है। यह शिल्पक के सत्ताइस अंङ्गो से युक्त होता है। इसमें हास्य, श्रंगार, करुण रस की प्रधानता होती है। यह अनेक सह•ग्रामों के वर्णन से युक्त और अस्रगीत(अन्तर्जवनिका गीत) से मनोहर होता है। इसमें चार नायिकाएँ होती हैं।[2] इसका उदाहरण देवी महादेव हैं।

(9) **काव्य–** काव्य आरभटी वृत्ति से रहित एकांङ्की रूपक है। यह हास्य प्रधान उपरूपक है। यह खण्डमात्रा, द्विपादिका, भग्नताल आदि विशेष गीतभेदों से पूर्ण एवं वर्णमाला छग्गणिका छन्दों से युक्त होता है। इसमें नायक, नायिका धीरोदात्त तथा मुख और निर्वहण सन्धियॉ होती हैं।

(10) **प्रेक्षणक या प्रेङ्खण–** भोज, शारदातनय और रामचन्द्रगुण ने इसका नाम प्रेक्षणक दिया है और विश्वनाथ ने प्रेङ्खण नाम दिया है। भोज ने इसके दो भेद किये हैं– प्रेक्षणक और नर्तनक।

कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार, इसमें दो सन्धियॉ होती हैं और नायक उत्तम और मध्यम प्रकृति के होते हैं।

---

(1) साहित्य दर्पण

(2) साहित्य दर्पण

(11) **संलापक या सल्लापक–** विश्वनाथ के अनुसार, संलापक में तीन या चार अंड्क होते हैं। इसका नायक पाखण्डी होता है और इसमें श्रंड्गार एवं करुण रस को छोड़कर कोई एक रस अंड्गी प्रधान रस होता है। इसमें नगरावरोध, छल, संग्राम, विद्रव आदि का वर्णन होता है।[1] शारदातनय के मतानुसार इसका इतिवृत्त प्रख्यात, कवि–कल्पित अथवा मिश्रित होता है। इसमें तीन अंड्क होते हैं।[2] इसका उदाहरण 'मायाकापालिक' है।

(12) **श्रीगदित–** श्रीगदित एकांड्की रूपक है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है। इसका नायक प्रख्यात धीरोदात्त होता है। इसकी नायिका भी प्रख्यात होती है। इसमें गर्भ और विमर्श को छोड़कर शेष सन्धियॉ होती है। इसमें भारती वृत्ति का बाहुल्य पाया जाता है और 'श्री' शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग पाया जाता है, इसलिए इसे श्रीगदित कहते हैं।[3]

विश्वनाथ के अनुसार, एक दूसरे प्रकार का भी श्रीगदित का लक्षण दिया है। तदनुसार श्रीवेशधारिणीं नटी रंड्गमंच पर बैठकर कुछ गाती हुई तथा पढ़ती हुई दिखायी जाती है। इसमें एक अंड्क होता है और भारती वृत्ति की प्रचुरता रहती है।[4]

(13) **शिल्पक–** शिल्पक चार अंड्कों का उपरूपक है। इसका नायक ब्राह्मण और उपनायक अधम प्रवृत्ति का होता है। इसमें श्मशान आदि का वर्णन रहता है। इसमें शान्त और हास्य रस को छोड़कर अन्य रस होते हैं। इसमें चारों वृत्तियॉ होती हैं। शिल्पक के सत्ताईस अंड्ग होते हैं।

---

(1) साहित्य दर्पण
(2) भावप्रकाशन पृ0 256
(3) साहित्य दर्पण 6/293–294
(4) साहित्य दर्पण 6/295

(14) **विलासिका–** विलासिका एकांङ्की उपरूपक है। उसमें विदूषक विट पीठ मर्द आदि का चरित चित्रित होता है। इसमें श्रंङ्गार रस की प्रधानता रहती है। विमर्श को छोड़कर शेष तीन सन्धियॉ होती हैं। इसमें लास्य के दस अंङ्गों की योजना होती है।

(15) **दुर्मल्लिका या दुर्मल्ली–** अग्निपुराण में दुर्मल्ली नाम प्राप्त होता है। दुर्मल्लिका में चार अंङ्क होते हैं। इसका प्रथम अंङ्क तीन नाड़िका(छःघड़ी) का और विट की विविध क्रीड़ाओं से युक्त होता है। इसमें कौशिकी और भारती वृत्तियों की योजना होती है। इसके पात्र चतुर होते हैं और नायक नीच प्रकृति का होता है।[1]

आचार्य भोज के अनुसार, दुर्मल्लिका में एक दूती नायक–नायिका के चौर्य–रति को रंङ्गमंच पर प्रकट करती है और दर्शकों से धन मांगती है।

(16) **हल्लीस या हल्लीसक–** हल्लीश नृत्य प्रधान एकांङ्की उपरूपक है। इसमें मण्डलाकार नृत्य होता है। जिसके मध्य में कृष्ण के समान एक नायक होता है। जिसको घेरकर नर्तकियॉ मण्डलाकार नृत्य करती है और गाती हैं।[2]

मण्डलेन तु यन्नृत्यं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्यात् गोपस्त्रीणां यथा हरिः।।

विश्वनाथ के अनुसार, हल्लीसक में एक अंङ्क होता है और सात या आठ या दस स्त्रीपात्र होते हैं।

---

(1) साहित्यदर्पण 6/303–305
(2) अभिनव भारती भाग 1 पृ0 181 तथा श्रंगार प्रकाश(भोज) पृ0 555

(17) **भाण–** भाण–नृत्य गीत प्रधान उपरूपक है; किन्तु मध्य में नायक गद्यांश का भी प्रयोग करता है। अभिनव गुप्त के अनुसार, भाण में नर्तकी नृसिंहावतार और वामनावतार के वर्णन का अभिनय करती है। नाट्य दर्पण के अनुसार, भाण में हरि, हर, सूर्य, भवानी, स्कन्द और प्रथमाधिप की स्तुति निबद्ध रहती है।

(18) **भाणिका–** भाणिका एक नृत्य रूपक है। भाणिका में सुन्दर नेपथ्य की रचना होती है और मुख एवं निर्वहण सन्धियों की योजना होती है। इसमें कौशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसकी नायिका उदात्त प्रकृति की कुलजा रमणी होती है। नायक नीच प्रकृति का होता है। इसके सात अंड्ग होते हैं। उपन्यास, विन्यास, विवोध, साध्वस, निवृत्ति और संहार।[1] शारदातनय के अनुसार, भाण ही सुकुमार प्रयोग के कारण भाणिका हो जाती है।

(19) **डोम्बी–** डोम्बी का लक्षण भाणिका के समान है। विश्वनाथ ने 'भाणिका' का जो लक्षण दिया है। शारदातनय ने वही लक्षण डोम्बी का दिया है। कुछ आचार्यों ने डोम्बी को ही भाणिका कहा है। **(डोम्व्येव भाणिकोदात्तनायिकैकाड्गभूषिता**) शारदातनय के अनुसार, डोम्बी में एक अंड्ग हौता है और उसकी नायिका उदात्त होती है। इसमें कौशिकी भारती वृत्तियाँ होती हैं। वीर, श्रंड्गार रस अंड्गी रस होता है। इसके सात अंड्क होते है।[2]

(20) **मल्लिका–** शारदातनय ने ही मल्लिका को उपरूपकों में परिगणित किया है। उनके अनुसार, मल्लिका श्रंड्गार रस प्रधान उपरूपक है। इसमें एक या दो अंड्क होते हैं और कौशिकी वृत्ति की योजना होती है।

---

(1) साहित्यदर्पण 6/308–312

(2) भावप्रकाशन पृ0 257

(21) **कल्पवल्ली–** शारदातनय ने ही सर्वप्रथम कल्पवल्ली को उपरूपकों में परिगणित किया है। कल्पवल्ली नायक उदात्त और उपनायक पीठमर्द होता है। इसमें श्रंङ्गार या हास्य रस की प्रधानता होती है और कौशिकी वृत्ति का निबन्धन होता है।

(22) **पारिजातक–** शारदातनय ने ही सर्वप्रथम 'पारिजातक' को उपरूपकों में परिगणित किया है। पारिजातक एकांङ्की उपरूपक है। इसमें वीर या श्रंङ्गार रस की प्रधानता रहती है। इसका नायक दिव्य आक्र उदात्त होता है और नायिका स्वकीया या गणिका होती है तथा कालहान्तरिता होती है।[1]

(23) **छालिक्य या छलिक–** छलिक एक नृत्य प्रधान उपरूपक है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इस अभिनय को छलिक नाम से अभिहित किया है। हरिवंश पुराण के अनुसार सर्वप्रथम इसका अभिनय देवों और ऋषियों ने किया। श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ नृत्य किया था, उसी को छलिक्य नृत्य कहा गया है। आचार्यों ने इसे उपरूपक नहीं माना है।

इसप्रकार रूपकों एवं उपरूपकों के रूप में नाट्यकला का विकास देखा जाता है। नाट्यकला का विकास नृत्त, नृत्य और संवाद के संयोग से हुआ है। यह प्राग्वैदिक काल से प्रारम्भ हुआ है और भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। विविध अवस्थाओं से गुजरते हुए विश्वनाथ के समय तक दस रूपकों और अट्ठारह उपरूपकों में विकसित हो गये हैं।

---

(1) भावप्रकाशन पृ0 268

नाट्यलक्षण

अग्निपुराणकार ने नाट्य का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया है। नाटक लक्षण की दो प्रकार की प्रवृत्तियॉ हैं। सामान्य और विशेष।

सामान्य– लक्षण प्रवृत्तियॉ सब नाटकों में होती हैं और

विशेष– प्रकार की प्रवृत्तियॉ कहीं–कहीं पूर्व रंग के पश्चात् देश और काल का संकलन रस भाव अनुभाव, अभिनय तथा अंङ्क विभाजन, कार्यावस्थाओं का प्रतिपादन नाटक सामान्य प्रवृत्ति है। क्योंकि इनकी उपस्थिति सर्वत्र रहती है। विशेष प्रवृत्तियों का प्रयोग अवसर मिलने पर होता है।[1]

उल्लाप्यकं प्रेङ्क्षमं च सप्तविषतिधैव तत्।
सामान्यं च विशेषष्च लक्षणस्य द्वयी मतिः।।
सामान्यं सर्वविषयं विशेषः क्वापि वर्तते।
पूर्वरंङ्गे निवृत्ते द्वौ देशकालातुभावपि।।

दशरूपकार श्री धनंजय ने नाट्य या रूपक का लक्षण इस प्रकार वर्णित किया है ''अवस्थानुकृतिर्नाटयं''

काव्य में वर्णित नायक की अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है। नायक की उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अथवा अभिनय कौशल के द्वारा नट का किया हुआ अनुकार्य(राम आदि के साथ तादात्म्य) (नट में यह राम है, इस प्रकार की एकरूपता) प्राप्त कराना काव्य अभिनय के योग्य होता है। वह भी नाट्य कहलाता है। फलतः अभिनय चार प्रकार का होता है।[2]

(1) आंङ्गिक (2) वाचिक (3) आहार्य (4) सात्विक

---

(1) अग्निपुराण 338/4–5

(2) दशरूपक 1/7

भुजा आदि अंङ्गों द्वारा अभिनय आंङ्गिक है। वचन के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक है। नाट्य के योग्य अलंङ्कार धारण करना, वेश रचना आदि के द्वारा जो अभिनय किया जाता है। वह आहार्य कहा जाता है। दूसरे के सुख दुःख की भावना से भावित अन्तःकरण की सत्व कहते हैं। सत्व से निष्पन्न होने वाले भाव सात्विक कहे जाते हैं।

''रूपंदृष्यतयोच्यते''

जिस प्रकार दृश्य(चाक्षुष ज्ञान का विषय) होने के कारण नील इत्यादि रूप कहलाते हैं। उसी प्रकार दृश्य होने के कारण नाट्य को रूप कहते हैं।[1]

''रूपकं तत्समारोपात्''

आरोप किये जाने के कारण वह(तत्) नाट्य रूपक कहा जाता है।[2] जिस प्रकार मुख में चन्द्रमा का आरोप किये जाने के कारण 'मुखचन्द्र' में रूपक (अलंकार) कहा जाता है। इसी प्रकार नट में राम आदि की अवस्था(रूप) का आरोप होने के कारण नाट्य को रूपक कहा जाता है। इस प्रकार एक ही अर्थ(दृश्यकाल) में प्रयुक्त होने वाले नाट्यरूप और रूपक (इन तीनों शब्दों का इन्द्र, पुरन्दर तथा शक्र आदि) के समान प्रवृत्ति निमित्त में भेद बताए हैं।

---

(1) दशरूपक 1/8

(2) दशरूपक 1/9

धनंजय के अनुसार, 'रूप' शब्द की व्युत्पत्ति होगी रूप्यते दृश्यते इति रूपम् नाट्य में राम आदि(अनुकार्य) के रूप का आरोप करना ही रूपक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। जिस निमित्त से किसी अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। वह शब्द प्रवृत्ति निमित्त कहा जाता है, जैसे– गोत्व के कारण गायों में गो शब्द का प्रयोग होता है। अतः गोत्व गो शब्द का प्रवृत्ति निमित्त है। एक ही अर्थ(वस्तु) के लिए भिन्न–भिन्न निमित्तों से अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। वहॉ पर उन श्ब्दों के अर्थ में तो भेद नहीं होता उन शब्दों के प्रयोग का निमित्त भिन्न–भिन्न हो सकता है। एक ही व्यक्ति परम् ऐश्वर्यवान होने के कारण इन्द्र तथा पुरों को विदीर्ण करने के कारण पुरन्दर कहलाता है। इस प्रकार अभिनय या दृश्य काव्य में उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है। वे नाट्य कहलाते हैं।

अग्निपुराण में नाट्य का स्वरूप इसप्रकार वर्णित किया गया है। नाटक त्रिवर्ग धर्म, अर्थ,काम की प्राप्ति का हेतुभूत साधन है। पूर्वरंग में विधिपूर्वक प्रशंसा की गयी है। अग्निपुराण में नान्दी आदि बत्तीस अंड्गों का निर्वाह किया गया है और देवताओं और गुरुजनों की स्तुति की गयी है। गौ, ब्राह्मण और राजा के आशीष का गायन किया जाता है।

विषेषोऽवसरेवाच्यःसामान्यंपूर्वमुच्यते।
त्रिवर्गसाधनं नाट्यंतित्याहुःकरणं च यत्।।
इतिकर्तब्यता तस्य पूर्वरंड्गों यथाविधि।
नान्दीमुखानि द्वात्रिंषदड्गानि पूर्वरंड्के।।
देवतानां नमस्कारो गुरुणामपि च स्तुतिः।
गोब्राह्मणनृपादिनामार्शीर्वादादि गीयते।।[1]

(1) अग्निपुराण 338/7–9

नाट्यशास्त्र की एक अन्य परम्परा की रचना का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं उनके अनुसार ब्रह्मा नाट्यवेद की रचना कर प्रयोग के लिए भरत को सिखाया और भरत ने अपने पुत्रों के साथ उसका प्रयोग किया। इसप्रकार ब्रह्मा नाट्यशास्त्र के रचयिता हैं और भरत नाट्य प्रयोक्ता हैं।

तमिल भाषा में 'पंचभरतम्' नामक एक रचना मिलती है, जिसमें भरत से सम्बन्धित पॉच नाम आये हैं– आदिभरत(वृद्धभरत), नान्दिभरत, मतंङ्गभरत, अर्जुनभरत और हनुमद्भरत। शारदातनय को 'पंचभारतीयम्' नामक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता था यह वही ग्रन्थ है, जिसमें वृद्धभरत, नान्दिभरत, कोहलभरत, दत्तिलभरत और मतंङ्गभरत के सिद्धान्तों का समवेत सम्पादन होगा। इन पॉचों ने नाट्यवेद का भरण(धारण) किया था इसलिए वे भरत कहलाए। शारदातनय के अनुसार इसी परम्परा के किसी भरत ने अपने पूर्ववर्ती भरतों के सिद्धान्तों का सार ग्रहण कर एक नाट्यसंग्रह तैयार किया, जो नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ और बाद में वह भरतनाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

आदिभरत के अनुसार आर्शीवचन एवं नमस्कार से युक्त काव्यार्थ के सूचक श्लोक को 'नान्दी' कहते हैं।

आशीर्नमस्क्रियारूप श्लोकः काव्यार्थसूचकः[1]

नान्दीति कथ्यते

भरत का मत आदिभरत के विचारों के निकट प्रतीत होता है। भरत के अनुसार आशीर्वचन से युक्त देवता, द्विज, नृपादि की स्तुति 'नान्दी' कहलाती है–

आशीर्वचन संयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति।।

---

(1) अभिज्ञानशाकुन्तलः राघवभट्ट की टीका

अग्निपुराण में प्राप्त नान्दी का लक्षण भरतानुसारी है किन्तु भरत के अनुसार नान्दीपाठ सूत्रधार करता है। जबकि अग्निपुराण के अनुसार नान्दीपाठ के पश्चात् सूत्रधार प्रवेश करता है। भास के नाटक इसी परम्परा के हैं। भास के नाटकों में **''नान्द्यन्ते प्रविशति सूत्रधारः''** अर्थात् नान्दी के अन्त में सूत्रधार प्रवेश करता है।

अग्निपुराण के अनुसार ही नान्दी का लक्षण इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है–

देवतानां नमस्कारो गुरुणामपि च स्तुतिः।
गोब्राह्मण नृपादीनामाषीर्वादष्च गीयते।
नान्द्यन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते।।
आशीर्वचन संयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नन्दीति संज्ञिता।।[1]

रसार्णवसुधाकर और नाटकलक्षणरत्नकोश का नान्दी लक्षण पूर्ण भरतनुसारी है, किन्तु रसार्णवसुधाकर में अग्निपुराण की परम्परा के अनुसार दसपदा नान्दी का उल्लेख है। नाटकलक्षणरत्नकोश के अनुसार नान्दीपाठ सूत्रधार करता है। प्रतापरुद्रीय में नान्दी का लक्षण आदिभरत के अनुसार है। विश्वनाथ ने भरत के अनुसार नान्दी का लक्षण दिया है कि नाटक प्रारम्भ में आशीर्वचनों से युक्त देवता, ब्राह्मण और राजा आदि की जी स्तुति की जाती है उसे नान्दी कहते हैं।

---

(1) साहित्यदर्पण 6/24

नान्दी का अधिष्ठातृ देवता चन्द्र है और चन्द्र रसेश्वर है। रस आनन्द रूप है और रस ही नाट्य है। तथा नाट्य भी आनन्द मूलक है। शारदातनय ने नान्दी का रसेश्वर चन्द्र से सम्बन्ध बताया है। उसके अनुसार रस सम्पति चन्द्रमा के आधीन होने से नाट्य में नान्दी पाठकों को चार अंङ्गों से युक्त नान्दी पाठ करना चाहिए।

नान्दी के भेद– नान्दी दो प्रकार की होती है।

(1) शुद्ध (उत्तररामचरित) और

(2) पत्रावली (मुद्राराक्षस, शाकुन्तलम्)

इसमें शुद्ध नान्दी आशीर्वचन, नमस्कृति और मांङ्गलिक अनुष्ठान से युक्त होती है और पत्रावली संज्ञक नान्दी में श्लेष अथवा समासोक्ति के द्वारा बीज का विन्यास एवं अभिधेय वस्तु का विन्यास होता है।

सूत्रधार– जो नाटक प्रयोग के सूत्र को धारण करता है या संचालित करता है उसे 'सूत्रधार' कहते हैं।

'' सूत्र प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः ''

इस व्युत्पत्ति के अनुसार रंङ्गमंच पर होने वाले प्रयोग को नियमित रूप से धारण करने के कारण उसे सूत्रधार कहा जाता है। सूत्रधार रंङ्गमंच पर उपस्थित होकर नाटक का आरम्भ करता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार पूर्वरंङ्ग एवं प्रस्तावना के विधान में सूत्रधार के साथ परिपार्श्विक की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सूत्रधार विश्वस्त एवं रंङ्गमंच की कला में योग्यतम् अपने दो सहयोगी को परिपार्श्विक के रूप में नियुक्त करता है। रूपकों की प्रस्तावनाओं में सूत्रधार के साथ नटी भी विद्यमान रहती है। नटी सूत्रधार की पत्नी होती है।

नाट्याचार्यों ने सूत्रधार परिपार्श्विक स्थापक के अतिरिक्त नट, नटी, नर्तक, नर्तकी, स्त्रीजीवी और रंङ्गाचार्य आदि पात्रों का उल्लेख किया है।

प्रस्तावना— प्रस्तावना का नाट्य प्रयोग में महत्वपूर्ण स्थान है। नटी, विदूषक अथवा परिपार्श्विक सूत्रधार के साथ अपने कार्य के लिए चित्र, विचित्र वाक्यों से अथवा वीथी के अंङ्गों सहित अन्य प्रकार से परस्पर जो वार्तालाप करते हैं उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं।

नटी विदूषक आदि पात्रों का कथन— पूर्वरंङ्ग के प्रयोग के पश्चात् सूत्रधार के समान गुण एवं आकृति वाला जो नट रंङ्गमंच पर प्रवेश कर काव्यार्थ की स्थापना करते हैं, उसे स्थापक कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार वह रूपक के समस्त वृत्तों का स्थापन करता है। इसलिए स्थापक कहा जाता है। वह स्थापक सूत्रधार के समान गुणाकृति वाला होता है।

''स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधार गुणाकृतिः''[1]

धनंजय और विश्वनाथ के अनुसार सूत्रधार के पूर्वरंङ्ग का विधान करके रंङ्गमंच से चले जाने के पश्चात् उसी की तरह वेश—भूषा को धारण करने वाला दूसरा नट रंङ्गमंच पर प्रवेशकर काव्य की स्थापना करता है।

पूर्वरंङ्ग विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविष्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः।।[2]

---

(1) नाट्यशास्त्र 5/170

(2) दशरूपक 3/2 साहित्यदर्पण 6/26

अग्निपुराण में भी सूत्रधार ही स्थापक कहा गया है। (सूत्रधार एव स्थापकः) इसप्रकार एक ही नट सूत्रधार और स्थापक दोनों का कार्य करता है। परिपार्श्विक सूत्रधार का सबसे विश्वस्त सहचर होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार, वह सूत्रधार की अपेक्षा गुणों में किंचित न्यून होता है। वह मध्यम प्रकृति का पात्र होता है और उज्जवल, रूपवान, मेधावी, नाट्य विधान का ज्ञाता और अपने कार्य में कुशल होता है।

रूपकों की प्रस्तावनाओं में सूत्रधार के साथ नटी भी विद्यमान रहती है। नटी सूत्रधार की पत्नी होती है। सूत्रधार और नटी नाट्य व्यवसाय करने वाली एक ही जाति के लोग प्रतीत होते हैं। नाट्य प्रयोग उनका वंश परम्परागत व्यवसाय होता है। नटी अभिनय कला में निपुण तथा नृत्य गीत में निष्णात् होती है। शारदातनय ने नाट्य प्रयोक्ताओं में सूत्रधार नट–नटी परिपार्श्विक कुशीलव, शैलूष भरत, विदूषक आदि का उल्लेख किया है। सूत्रधार नटी विदूषक अथवा पारिपार्श्विक के साथ प्रस्तुत वस्तु का आक्षेप करते हुए चित्र विचित्र उक्तियों से जो अपने कार्य का वर्णन करता है।

सूत्रधारो नटी ब्रूतेमार्षंवाथ विदूषकम्।
स्वकार्य प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्यायत्तदामुखम्।।[1]

---

(1) दशरूपक 3/7–8 भावप्रकाशन पृष्ठ 229

अग्निपुराण में प्रस्तावना के तीन भेद बताए गए हैं। प्रवृत्तक कथोद्घात् और प्रयोगातिशय। नाट्यशास्त्र में आमुख के पॉच अंङ्गों का उल्लेख किया गया है। विश्वनाथ ने भी नाट्यशास्त्र के अनुसार पॉच अंङ्गों को ही माना है। उद्घात, कथोद्घात्, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और अवगलित।

उद्घातकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तधा।

प्रवृत्तकावगलिते पंचाङ्गान्यामुखस्य तु।।[1]

(1) **उद्घातक–** जहॉ अनिश्चितार्थक पदों की अर्थ प्रतीति के लिए निश्चितार्थक पदों की योजना कर स्थापक के अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण होता है। उसे 'उद्घातक' कहते हैं।

(2) **कथोद्घात्–** जहॉ सूत्रधारक के वाक्य अथवा वाक्यार्थ को लेकर उसी के अनुकूल उक्ति का प्रयोग करता हुआ पात्र रंङ्गमंच में प्रवेश करता है, वहॉ कथोद्घात् नामक आमुख होता है।

(3) **प्रयोगातिशय–** जहॉ पर सूत्रधार नाट्य प्रयोग में किसी दूसरे प्रयोग का वर्णन करे तब पात्र प्रवेश करे, वहॉ प्रयोगातिशय नामक आमुख होता है।

(4) **प्रवृत्तक–** जहॉ सूत्रधार काल और उसकी प्रवृत्ति का आश्रय लेकर वर्णन करता है, उस वर्णन का आश्रय लेकर अर्थात् उसी वर्णन के अनुसार पात्र का प्रवेश होता है, उसे प्रवृत्तक कहते हैं।

(5) **अवगलित–** जब सूत्रधार एक प्रयोग में नाट्यारम्भ–रूप दूसरे प्रयोग की योजना करता है और पात्र का प्रवेश होता है, उसे अवगलित नामक आमुख कहते हैं।

---

(1) नाट्यशास्त्र 20/33

प्रस्तावना के दो भेद हैं– एक पूर्वरंङ्ग की अंङ्गभूता प्रस्तावना और दूसरी अन्य की अंङ्गभूता प्रस्तावना।

जहॉ पूर्वरंङ्ग के विधान को काव्य के अभिमुख ले जाया जाता है, वहॉ पूर्वरंङ्ग की अंङ्गभूता प्रस्तावना होती है।

सिद्धोत्प्रेक्षादि के भेद– अग्निपुराणकार ने इतिवृत्त के दो भेद बताए हैं– सिद्ध और उत्प्रेक्षित। आगम(शास्त्र) से प्राप्त कथानक सिद्ध कहलाता ह, और कवि कल्पना से प्रसूत कथानक उत्प्रेक्षित कहलाता है।

सिद्धमुप्रेक्षितं चेति तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
सिद्धमागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः।।[1]

नाट्यशास्त्र के अनुसार तीन तत्व माने हैं– वस्तु, नेता और रस। वस्तु को ही कथावस्तु, कथानक, इतिवृत्त, चरित आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार रूपक की कथावस्तु इतिवृत्त है। इसी को कथानक भी कहते हैं।

शिंङ्गभूपाल के अनुसार नायक का चरित्र अथवा आत्मवृत्त इतिवृत्त के नाम से जाना जाता है। इतिवृत्त ही नाट्य का शरीर माना जाता है। नाट्यशास्त्र में रस उनकी आत्मा है।

इतिवृत्तं हि नाटयस्य शरीरं परिकीर्तितम्।
शरीरं नाटकादीनामितिवृतं प्रचक्षते।।[2]

भरत एवं अग्निपुराण ने भी इतिवृत्त को नाट्य का शरीर माना है।

---

(1) अग्निपुराण 338/18

(2) नाट्यशास्त्र 221/अग्निपुराणोक्तं, काव्यालंङ्कार शास्त्रम्

शारदातनय ने भी नाट्य को इतिवृत्त की संज्ञा प्रदान की है। नाट्यदर्पणकार ने नायक के चरित्र को इतिवृत्त के नाम से अभिहित किया है। इतिवृत्त के दो प्रकार बतलाये गए हैं।

(1) अधिकारिक

(2) प्रासंङ्गिक

मुख्यकथावस्तु को आधिकारिक कहते हैं। यह इतिवृत्त सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त रहता है और फलोन्मुख होता है। इसके अंङ्गभूत इतिवृत्त को प्रासंङ्गिक कहते हैं। यह मुख्य कथा में सहायक होता है। अर्थात् प्रधान नायक के कार्य सिद्धि में सहायक होता है।

तत्राधिकारिकं मुख्यमंङ्ग प्रासांङ्किं विदुः।
सानुबन्ध पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेषभाक्।।[1]

जैसे राम सीता का वृत्तान्त आधिकारिक है। प्रासंङ्गिक इतिवृत्त के दो भेद होते हैं– पताका एवं प्रकरी। इसमें सानुबन्ध दूर तक चलने वाली प्रसांङ्गिक कथा को पताका कहते हैं। जैसे रामचरित में सुग्रीव का वृत्तान्त 'पताका' है और एक देशस्थ अर्थात् थोड़ी दूर तक चलने वाले वृत्त को प्रकरी कहते हैं। जैसे शबरी का वृत्तान्त। इसप्रकार इतिवृत्त के तीन भेद होते हैं।

(1) आधिकारिक

(2) पताका

(3) प्रकरी

---

(1) दशरूपक 1/11–13

पताकास्थानक भी एक प्रकार का इतिवृत्त ही है। यह नाटक में वैचित्र्याधान के लिए उपनिबद्ध होता है। जहॉ पर आगन्तुक(भावी) अर्थ को अन्योक्तिमय सूचना हो, उसे 'पताका स्थानक' कहते हैं। नाट्य में कवि कभी–कभी भविष्य में घटित होने वाली घटना का संङ्केत कर देता है। पताका के समान भावी वृत्त की सूचना देने के कारण इसे पताकास्थानक कहते हैं।

इसप्रकार धनंजय ने इतिवृत्त के तीन भेद किये हैं– आधिकारिक, पताका और प्रकरी। पुनः इसके तीन भेद होते हैं– प्रख्यात्, उत्पाद्य और मिश्र। इतिहास पुराण आदि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि कल्पित इतिवृत्त उत्पाद्य और प्रख्यात एवं उत्पाद्य दोनों का समन्वित रूप मिश्र इतिवृत्त कहलाता है। पुनः दिव्य मर्त्यादि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। नाट्यदर्पणकार ने इतिवृत्त के चार विभाग किए हैं। सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य और उपेक्ष्य, इतिवृत्त का प्रयोजन(फल) धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग की प्राप्ति है। (**त्रिवर्ग साधनं नाट्यम्**) यह फल कभी एक, कभी दोनों वर्ग और कभी तीनों वर्ग हो सकते हैं। रूपक के समस्त इतिवृत्त को पॉच अवस्थाओं, पॉच अर्थ प्रकृतियों तथा पॉच सन्धियों में विभाजित किया गया है।

पॉच अवस्थाओं में नाटक के इतिवृत्त का पूर्णतः विकास करती है, जो इसप्रकार है–

आरम्भ– मुख्य फल की प्राप्ति के लिए जो औत्सुक्य पाया जाता है। उसे आरम्भ कहते हैं। उसे आरम्भ कहते हैं। अथवात्रिवर्ग रूप फल की प्राप्ति की कामना ''आरम्भ'' है।

प्रयत्न– अभीष्ठ फल की प्राप्ति के लिए संकल्प पूर्वक किया गया त्वरायुक्त व्यापार(उद्योग) 'प्रयत्न' है।

प्रत्याषा– प्रधान फल की प्राप्ति की आशा अर्थात् फल प्राप्ति के साधनों एवं विघ्न वाधाओं की आशंङ्का से कुछ–कुछ फल सिद्धि की सम्भावना 'प्रत्याशा' है।

नियताप्ति— विघ्न वाधाओं के अभाव के कारण फल प्राप्ति की पूर्ण निश्चय की अवस्था 'नियताप्ति' है।

फलागम— इतिवृत्त में नायक को अभीष्ठ समग्र फल की प्राप्ति फलागम् है अर्थात् कार्य में सफलता के साथ साथ समस्त इच्छित फलों की प्राप्ति 'फलागम' है।

पॉच अर्थ प्रकृतियॉ— नाट्य शरीर रूप इतिवृत्त के पॉच तत्व हैं। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। इन्हें अर्थ प्रकृति कहते हैं। ये रूपक के प्रयोजन की सिद्धि के हेतु हैं। नाट्यदर्पण के अनुसार, अर्थ प्रकृतियॉ इतिवृत्त के प्रयोजन(फल) सिद्धि के उपाय हैं। अग्नि पुराण में इनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थ प्रकृतयः पंच पंच चेष्टा अपि क्रमात्।।
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिः सद्भाव एव च।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पंचमः।।

बीज— प्रथम अर्थ प्रकृति 'बीज' है। बीज फल सिद्धि का हेतु है। वह वृक्ष बीज की तरह स्वल्प रूप में निक्षिप्त होने पर भी अनेक प्रकार से विकसित होता है। यह कार्य का मुख्य कारण होता है। जिस प्रकार फल प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम बीज बोया गया वह क्रमशः अंङ्कुरित एवं पल्लवित होकर महान् वृक्ष का रूप धारण कर लेता है और बाद में उसमें फल लगता है। उसी प्रकार नाटक में फल की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ में बीज नामक अर्थ प्रकृति का सूक्ष्म रूप में उल्लेख किया जाता है और आगे चलकर वह अनेक रूपों में विकसित होता है।

अग्निपुराण 338 / 19—20

बिन्दु– द्वितीय अर्थ प्रकृति 'बिन्दु' है। आवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर जो इतिवृत्त को जोड़ने और आगे बढ़ाने का हेतु है। उसे बिन्दु कहते हैं।

अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम्।[1]

जिस प्रकार तेल का बिन्दु जल पर फैल जाता है। उसी प्रकार यह बिन्दु भी इतिवृत्त में प्रसारित होता है। शिंङ्गभूपाल के अनुसार जिस प्रकार जल बिन्दुओं से तरुमूल में सिंचित करने से फल लाभ होता है। उसी प्रकार बिन्दु के निक्षेप से नाट्य(कथा) इतिवृत्त पल्लवित एवं विकसित होती है।

जलबिन्दुर्यथा सिंचॅस्तरुमूलं फलाय हि।
तथैवायं मुहुः क्षिप्तो बिन्दुरित्यभिधीयते।।[2]

कार्य– बीज रूप में उपक्षिप्त नामक के उपाय से सम्बद्ध इतिवृत्त की पूर्णता कार्य हैं। शिंङ्गभूपाल के अनुसार धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग का साधक समस्त नाट्य व्यापार कार्य हैं।[3] इसके दो भेद होते हैं। 'शुद्ध' और 'मिश्र'

पताका– पताका वह प्रासांङ्गिक इतिवृत्त हैं जो व्यापक हुआ करता है और प्रधान फल का सहायक बना करता है। जैसे– (रामचरित आदि रूपक प्रबन्धों में) सुग्रीवादि वृत्तांन्त रूप जो पताका है, उसमें सुग्रीवादि का राज्यालाभादिरूप फलगर्भ अथवा विमर्श संन्धि में ही उपनिबद्ध है।

---

(1) दशरूपक 1/7 नाट्यदर्पण 1/29

(2) रसार्णवसुधाकर 3/11–12

(3) रसार्णवसुधाकर 3/17

प्रकरी– मुख्य कथा के साथ थोड़ी दूर तक चलने वाली प्रकरी होती है। प्रकरी वह अर्थ प्रकृति है। जिसे रूपक प्रबन्धों के अल्पदेश ब्यापक प्रासंङ्गिक वृत्त के रूप में देखा जाता है। इसके उदाहरण के लिए रामायण में श्रवण या जटायु सम्बन्धी वृत्तान्त को लिया जा सकता है।

धनंन्जय के अनुसार पॉच अवस्थाएँ और पॉच अर्थ प्रकृतियॉ क्रमशः जब एक दूसरे से मिलती है तो सन्धि कहलाती है। सन्धि का सामान्य लक्षण बताते हुए वे कहते हैं कि जब किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध कथांशों को किसी दूसरे प्रायोजन से सम्बद्ध किया जाय तो उस सम्बन्ध को सन्धि कहते हैं। सन्धि में एक और दो कथांशों का सम्बन्ध अर्थ प्रकृति के रूप में कार्य होता है और दूसरी अवस्था के रूप में फलागम होता है। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध होने पर सन्धि होती है।

समग्रफलसम्पन्तिः फलयोगो यथोदितः।
अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः।।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः।
अन्तरैकार्यसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।।[1]

इन सन्धियों की रचना निम्नलिखित रूप में की गई हैं।

अवस्था		अर्थप्रकृति		सन्धि
1– आरम्भ	+	बीज	=	मुखसन्धि
2– प्रयत्न	+	बिन्दु	=	प्रतिमुखसन्धि
3– प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भसन्धि
4– नियताप्ति	+	प्रकरी	=	विमर्शसन्धि
5– फलागम	+	कार्य	=	निर्वहणसन्धि

---

(1) दशरूपक 1/22–23
रसार्णवसुधाकर 3/26 भावप्रकाशन पृ0 207

सन्धियों का विस्तृत विवेचन नाट्य में किया गया है जो इसप्रकार है।

(1) **मुखसन्धि–** आरम्भ नामक अवस्था और बीज(अर्थ प्रकृति) के योग से मुख सन्धि होती है। मुख सन्धि में नानाप्रकार के अर्थों एवं रसों के योग से बीज की उत्पत्ति पायी जाती है।

यत्र बीजसमुत्पत्तिनीनार्थरस सम्भवाः।
काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्।।[1]

भाव यह है कि जो अनेक प्रकार के प्रयोजनों एवं रसों की निष्पत्ति का हेतु होती है। उसे 'मुखसन्धि' कहते हैं। जिस प्रकार शरीर में मुख की प्रधानता होती है। उसी प्रकार आरम्भ अवस्था के साथ बीज की उत्पत्ति होने के कारण नाट्य शरीर में यह सन्धि मुख्य होने से ''मुखसन्धि'' कहलाती है।

(2) **प्रतिमुखसन्धि–** प्रयत्न नामक अवस्था और बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति के योग से प्रतिमुख सन्धि होती है। प्रतिमुख में बीज रूप इतिवृत्त का उद्घाटन होता है। मुखसन्धि में बीज का वपन होता है और प्रतिमुखसन्धि में प्रस्फुटित होने लगता है। अनुकूल वातावरण में वह बीज रूप इतिवृत्त उद्घाटित होता हुआ दृश्य मालूम पड़ता है।

(3) **गर्भसन्धि–** प्राप्त्याशा नामक अवस्था और पताका नामक अर्थ प्रकृति के योग से 'गर्भसन्धि' का निर्माण होता है। इस सन्धि में नायक विषयक प्राप्ति और प्रतिनायक विषयक अप्राप्ति के साथ अन्वेषण होता है।

उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः।।[2]

---

(1) नाट्यशास्त्र 19/39 अभिनव भारती भाग 3 पृ0 23, दशरूपक 1/24
(2) नाट्यशास्त्र 19/41

धनंजय के अनुसार प्रतिमुखसन्धि में किंचित प्रकाशित हुए बीज का बार –बार आविर्भाव तिरोभाव एवं अन्वेषण गर्भसन्धि कहलाती है।

गर्भस्य दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।[1]

इसमें मुख्य फल की प्राप्ति और अप्राप्ति की स्थिति में बीज के बार–बार अनुसन्धान से फलोन्मुखता गर्भित रहती है। इसलिए इसे गर्भसन्धि कहते हैं।

(4) **विमर्षसन्धि या अवमर्शसन्धि–** इस सन्धि के शब्दों के लिए भरत, रामचन्द्र गुणचन्द्र, विश्वनाथ आदि आचार्य विमर्श का प्रयोग करते हैं और धनंजय, शारदातनय, शिंङ्गभूपाल आदि आचार्य अवमर्श शब्द नाम से अभिहित करते हैं। इस सम्बन्ध में अभिनव गुप्त का कथन है कि कुछ लोग विमर्श को संदेहात्मक मानते हैं; और दूसरे आचार्य अवमर्श को विघ्नवाचक मानते हैं।[2]

नियताप्ति रूप अवस्था और प्रकरी नामक अर्थप्रकृति के योग से विमर्श संन्धि होती है। जहॉ पर क्रोध व्यसन या विलोभन से फल प्राप्ति के सम्बन्ध में ही विचार या पर्यालोचन किया जाय उसे विमर्श या अवमर्शसन्धि कहते हैं।

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो बिलोभनकृतोऽथवा।
क्रोधव्यसन जो वापि स विमर्श इति स्मृता।।[3]

धनंजय और शारदातनय आदि आचार्य इसी को स्वीकार करते हैं किन्तु विश्वनाथ इससे भिन्न लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार गर्भसन्धि में उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज जहॉ पर अधिक विकसित होता है; और शापादि के कारण अन्तराय से युक्त हो उसे विमर्शसन्धि कहते हैं।

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्र्च स विमर्श इति स्मृतः।।[4]

---

(1) दशरूपक 1/36

(2) अभिनवभारती भाग 3 पृ0 27

(3) नाट्यशास्त्र 19/42

(4) साहित्यदर्पण 6/79

(5) **निर्वहणसन्धि–** जहॉ पर फलागम नामक अवस्था और कार्य नामक अर्थप्रकृति का योग रहता है, वहॉ निर्वहण सन्धि होती है। जहॉ पर इतिवृत्ति के बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुखादि अर्थात् मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श सन्धियों में यत्र–तत्र बिखरे हुए आरम्भ आदि अर्थ(अवस्थाओं का) जब एक प्रधान प्रायोजन के लिए एक साथ समन्वित किए हैं, समेटे जाते हैं, तो वह निर्वहणसन्धि कहलाती है।

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथातथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।।[1]

धनंजय, विश्वनाथ, रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनय यह परिभाषा स्वीकार करते हैं। भरत कुछ भिन्न परिभाषा प्रस्तुत करते हैं।उनके अनुसार, जहॉ पर मुखादि सन्धियों और बीज सहित आरम्भादि अवस्थाओं तथा नानाविध सुख दुःखात्मक भावों का चमत्कार पूर्ण रीति से एकत्र समानयन हो तो निर्वहण सन्धि होती है।

समानयनमर्थानां मुखाद्यानां सबीजिनाम्।
नानाभावोत्तराणां यद् भवेन्निर्वहणं हि तत्।।[2]

---

(1) दशरूपक 1/48–49
(2) नाट्यशास्त्र 19/43

स्त्रियों के लीला विलास आदि का वर्णन– नायक के समान नायिकाओं के भी कुछ सात्विक अलंङ्कार होते हैं। ये अलंङ्कार भाव रस के आधार होते हैं और उनका सम्बन्ध यौवन से होता है। कुछ आचार्य उन्हें यौवनज अलंकार भी कहते हैं। ये अलंकार केवल शरीर के शोभावर्द्धक ही नहीं अपितु नारी के शील तथा परिनिष्ठित रूप भी है।[1] नायिकाओं के अलंकार तीन श्रेणी में विभाजित हैं।

(1) अङ्गज (2) अयत्नज (3) स्वाभाविक।

इनमें से अंङ्गज अलंङ्कार तीन प्रकार के होते हैं। हाव, भाव, हेला, अयत्नज अलंङ्कार सात प्रकार के होते हैं–

(1) शोभा (2) कान्ति (3) दीप्ति (4) माधुर्य (5) प्रगल्भता (6) औदार्य (7) धैर्य

ये स्त्रियों में अयत्न रूप पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त दस स्वभावज अलंङ्कार हैं–

(1) लीला (2) विलास (3) विच्छित्ति (4) बिभ्रम (5) किलकिंचित (6) मोट्टायित (7) कुट्टमित (8) विव्वोक (9) ललित (10) विहृत

ये स्त्रियों में स्वभाव से स्थित रहते हैं।

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः।
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्य च प्रगल्भता।।
लीला विलासो विच्छिति विभ्रमः किलकिंचितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं वित्वोको ललितं तथा।।[2]

---

(1) नाट्यशास्त्र 22/4

(2) दशरूपक 2/30–33 साहित्यदर्पण 3/89–92 नाट्यदर्पण 4/28

अग्निपुराणकार ने नायक नायक नायिका की विशेष चेष्टाएँ और अंङ्ग प्रत्यंङ्ग का कर्म ही शरीराम्भ(आंङ्गिक अभिनय) माना है। इसमें चेष्टाएँ प्रायः नारी पात्रों की होती है। अग्निपुराण में इनकी संख्या बारह मानी गयी हैं–

(1) लीला (2) विलास (3) विच्छित्ति (4) विभ्रम (5) किलकिंचित् (6) मोट्टायित (7) कुट्टमित (8) विव्वोक (9) ललित (10) विहृत (11) कीडितं (12) केलि

चेष्टा विशेषमप्यंङ्ग प्रत्यंङ्गे कर्मचानयोः।
शरीरारम्भमिच्छत्ति प्रायः पूर्वोऽबलाश्रयः।।
लीला विलासोविच्छित्तिर्विश्रमंकिलकिंचितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोकोललितं तथा।।
विहृतं कीडितं केलिरिति द्वादशधैव सः।।[1]

विश्वनाथ ने इन बीस अलंङ्कारों के अतिरिक्त आठ अन्य अलंङ्कार भी माने हैं–

(1) मद (2) तपन (3) मोग्ध्य (4) विक्षेप (5) कुतूहल (6) हसित (7) चकित (8) केलि

हसितं चकितं केलि रित्यष्टदशसंख्यकाः।
स्वभावजाश्र्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यापि।।[2]

---

(1) अग्निपुराण 341/1–2

(2) साहित्यदर्पण 3/92

(1) **अंङ्गज अलंङ्कार**— तीन प्रकार के होते हैं।

(क) **हाव**— नेत्रों एवं भौहों के विचित्र व्यापार द्वारा सम्भोग की कामना प्रकट करना हाव है।

(ख) **भाव**— नायक नायिका के निर्विकार चित्त में काम विकार का प्रथम उन्मेष भाव है।

(ग) **हेला**— नायक नायिका के हृदय में रति भाव के प्रस्फुरित हो जाने पर अंङ्ग प्रत्यंङ्ग का सबको परिलक्षित होने वाला विकार हेला है।

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।।
निर्विकारात्मकात्सत्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया।।
स एव हेला सुत्यक्त श्रंङ्गार रस सूचिका।।[1]

(2) **अयत्नज अलंङ्कार**— सात प्रकार के होते हैं।

(क) **शोभा**— रूप, यौवन एवं विलास से उत्पन्न शरीर का सौन्दर्य शोभा है।

(ख) **कान्ति**— काम विलास में बढी हुई वही शोभा कान्ति है।

(ग) **दीप्ति**— कान्ति भाव का विस्तार दीप्ति है।

(घ) **माधुर्य**— क्रोध आदि विकारों से दीप्ति सभी अवस्थाओं में अक्षुण्ण रमणीयता माधुर्य है।

(ङ) **प्रगल्लभता**— काम क्रिया कें दक्ष एवं निर्भीक होना प्रगल्लभता है।

(च) **औदार्य**— सभी अवस्थाओं में विनम्र रहना औदार्य है।

(छ) **धैर्य**— आत्मश्लाघा और चंचलता से रहित मनोवृत्ति धैर्य ळें

---

(1) साहित्यदर्पण 3/93 दशरूपक 2/33—34 नाट्यशास्त्र 22/8—11

(3) **स्वभावज अलंङ्कार–** दस प्रकार के होते हैं।

(क) **लीला–** प्रियतम के वेशभूषा, वचन, भाव, भंङ्गिमा आदि का अनुकरण लीला है।

(ख) **विलास–** प्रियतम के दर्शन से आंङ्गिक चेष्टाओं, बोलचाल आदि भावों में उत्पन्न विशेषता विलास है।

(ग) **विच्छत्ति–** कांन्ति को बढाने वाली स्वल्प वेश रचना विच्छत्ति है।

(घ) **विभ्रम–** प्रियतम के आगमन आदि के प्रसंङ्ग में हर्षातिरेक के कारण शीघ्रता से अलंङ्कारादि का अनुचित स्थान पर धारण करना विभ्रम है।

(ङ) **किलकिंचित–** आनन्दातिरेक के कारण हर्ष, शोक, क्रोध, रोदन, सुख, दुःख आदि अनेक भावों का एक साथ मिश्रण किलकिंचित कहलाता है।

(च) **मोट्टायित–** प्रियतम के चरित्र से सम्बद्ध कथा के श्रवण तथा दर्शन से प्रेम की अतिशय अभिव्यक्ति मोट्टायित है।

(छ) **कुट्टमित–** प्रियतम के द्वारा केश, अधर आदि का स्पर्श किए जाने पर प्रसन्नता से दिखावटी क्रोध का प्रदर्शन कुट्टमित है।

(ज) **विव्वोक–** सौन्दर्य आदि के गर्व के कारण प्रियतम के प्रति अनादर भाव प्रदर्शित करना विव्वोक है।

(झ) **ललित–** नारी के द्वारा अंङ्ग प्रत्यंङ्ग का सुकुमार संचालन तथा भाव भंङ्गिमाओं का प्रदर्शन ललित कहलाता है।

(ञ) **विह्रत–** अवसर आने पर भी लज्जा के कारण प्रिय वचनों का न बोलना विह्रत कहलाता है।

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गंविचेष्टितैः।
सुकुमाराङ्गबिन्यासो मृसणो ललितं भवेत।।[1]

---

(1) दशरूपक 2/37–41 साहित्यदर्पण 3/98

अङ्गैर्वेशेरलङ्कारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि।
प्रीति प्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिंविदुः।।

अभिनवगुप्त आदि आचार्य विश्वनाथोक्त मद तपन आदि आठ स्वभावज अलंङ्कारों को भरत विरोधी होने के कारण स्वीकार नहीं करते हैं। वे नायिका के अलंङ्कारों की संख्या बीस मानते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार राहुल, मातृगुप्त आदि आचार्य मदादि आठ अलंङ्कारों की नायिकाओं के स्वभावज अलंङ्कारों के रूप में परिगणना नहीं करते हैं। ये हाव भाव आदि अलंङ्कार उत्तम प्रकृति वाले युवक एवं युवती नारियों के शोभाजनक होते हैं।

शिरःकम्पन से आकम्पित आदि भेदों का वर्णन–

अग्निपुराणकार ने नृत्य में शिर से सम्बन्धित अभिनय तेरह प्रकार के माने हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) आकम्पित (2) कम्पित (3) धूत (4) विधूत (5) परिवाहित (6) आधूत (7) अवधूत (8) अंचित (9) निकुंचित (10) परावृत (11) उत्क्षिप्त (12) अधोगत (13) लोलित।

वनप्रयोगःक्वचिन्मुख्यं तिरष्चनिं च तत्क्वचित्।
आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेव च।।
परिवाहित माधूतमव धूतमथाऽऽचितम्।
निकुचितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम्।।[1]

नाट्यशास्त्र में शिरोऽभिनय के तेरह भेद गिनाए गए हैं जो निम्न हैं–

(क) आकम्पित (ख) कम्पित (ग) धूत (घ) विधूत (ङ) परिवाहित (च) आधूत (छ) अवधूत (ज) अंचित (झ) निकुंचित (ञ) परावृत (ट) उत्क्षिप्त (ठ) अधोगत (ड) लोलित।[2]

---

(1) अग्निपुराण 341/7.8

(2) नाट्यशास्त्र 8/19–20

अभिनयदर्पण में शिरोऽभिनय के नौ प्रकार बताए हैं।[1] जबकि भरतार्णव और नाट्य संग्रह में उनकी संख्या चौदह बतायी गयी है। उनमें से तेरह भेद नाट्यशास्त्र से मिलते हैं किन्तु उद्धाहित नामक एक भेद भरतार्णव में अधिक बताया गया है, जिसका नाट्यशास्त्र में उल्लेख नहीं हैं। इसके अतिरिक्त भरतार्वण में पॉच भेद और बताए गए हैं। इसप्रकार भरतार्वण में शिरोऽभिनय के भेदों की संख्या उन्नीस हो गई है।[2]

शाङ्र्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकर में भरत के मत से चौदह भेद और अन्य मत से पॉच भेद बताए गए हैं। इनमें तेरह भेद नाट्यशास्त्र के और एक भरतार्णवोक्त उद्वहित कुल चौदह भेद और अन्य मतानुसार पॉच भेद कुल उन्नीस भेद हैं।

(1) **आकम्पित**— आकम्पित में शिर को धीरे–धीरे ऊपर और नीचे की ओर हिलाया जाता है। अन्य के मतानुसार सरल स्थित शिर का ऊपर और नीचे की ओर संचालन करता है। वह आकम्पित होता है।

(2) **कम्पित**— उसे बार–बार द्रुतगति से कम्पित करना कम्पित शिर कहलाता है।

(3) **धूत**— शिर का धीरे–धीरे इधर उधर हिलाना धूत शिर कहा जाता है।

(4) **विधूत**— तीव्रगति से शिर का हिलाना विधूत कहलाता है।

(5) **परिवाहित**— यदि शिर को क्रमशः दोनों पार्श्वों की ओर कम्पित किया जाता है तो परिवाहित शिर कहलाता है।

---

(1) अभिनयदर्पण 49 / 50

(2) भरतार्णव 204—205

(6) **आधूत–** जब शिर तिरछा करके एक बार कम्पित किया जाता है। वह आधूत शिर कहा जाता है।

(7) **अवधूत–** जब शिर को नीचे की ओर एक बार शिर हिलाया जाता है। वह अवधूत शिर कहलाता है।

(8) **अंचित–** जब ग्रीवा को पार्श्व की ओर झुका दिया जाता है तो अंचित शिर कहलाता है।

(9) **निकुंचित–** जब दोनों कन्धे ऊपर की ओर उठे हुए हों और ग्रीवा नीचे की ओर अंचित हो तो निकुंचित शिरोऽभिनय होता है।

(10) **परावृत्त–** जब शिर को पीछे की ओर मोड़ दिया जाता है तो परावृत्त शिर कहलाता है।

(11) **उत्क्षिप्त–** जब शिर ऊपर की ओर उन्मुख हो अवस्थित होता है तो उत्क्षिप्त शिर कहलाता है।

(12) **अधोगत–** यदि शिर को नीचे की ओर झुका दिया जाय तो अधोगत शिरोऽभिनय कहलाता है।

(13) **लोलित–** जब शिर को चारों ओर घुमाया जाता है तो लोलित शिर कहलाता है।

(14) **स्वभावज–** सरल स्वभाव में प्रवृत्त अवस्था में शिर का स्थित होना स्वभावज शिरोऽभिनय कहलाता है।

भ्रकुटि प्रदर्शन

नाट्यशास्त्र में भौहों के माध्यम से विविध भावों की अभिव्यंजना भ्रूकर्म है। नाट्यशास्त्र में भ्रूकर्म के सात भेद बताए गए हैं। उत्क्षेप, पातन, भ्रूकुटि, चतुर, कुंचित, रेचित और सहज। अग्निपुराण, नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में नाट्यशास्त्र के अनुसार ही भ्रूकर्म के भेद वर्णित है, जो इस प्रकार हैं– अग्निपुराणकार के अनुसार रस, स्थायी और संचारी के आठ भेद से दृष्टि के छत्तीस भेद हैं। इसमें रसजा दृष्टि के आठ भेद हैं।

ललितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशबिधंशिरः।
भ्रूकर्म सप्तधा ज्ञेयं पातनं भ्रूकुटि मुखम्।।
दृष्टि स्त्रिधा रस स्थायि संचरि प्रतिबन्धना।
शटत्रिशद्भेदविधुरा रसजा तत्र चाश्टधा।।[1]

भौहों को एक साथ या बारी–बारी से ऊपर उठाना 'उत्क्षेप' है और क्रमशः नीचे की ओर गिराना 'पातन' है।

भौहों के मूल का एक साथ उन्नयन भ्रूकुटि है और भ्रूकुटियों की मधुरता एवं विस्तार चतुर कहा जाता है।

भैाहों का एक साथ झुकाना कुंचित कहा जाता है और एक ही भौंह का ललित उत्क्षेप रेचित कहलाता है।

भौहों का स्वाभाविक स्थिति में रहना सहज भ्रूकर्म कहा जाता है।[2] इसप्रकार भ्रूकुटि के कर्म का वर्णन किया गया है।

---

(1) अग्निपुराण 341 / 9–10

(2) नाट्यशास्त्र 8 / 118–127

''तारक आदि नवधा कर्मादि''

तरिका का कार्य ऑख की पुतलियों के माध्यम से होने वाली विभिन्न प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति पुत्तालिका कर्म या तारा अभिनय है।

नाट्यशास्त्र में (1) भ्रमण (2) बलन (3) पात (4) चलन (5) सम्प्रवेशन (6) विर्वत्तन (7) समुदृत (8) निष्क्राम (9) प्राकृत। ये नौ तारा के कार्य(पुत्तालिका कर्म) कहे गये हैं।[1] पुतलियों का पलकों के भीतर मण्डलाकार घुमाना भ्रमण है।[2] पुतलियों का तिरछी घुमाना वलन है। पुतलियों का नीचे ऊपर ले जाना पातन है। पुतलियों का कम्पन चलन है। पलकों के भीतर पुतलियों का प्रवेश प्रवेशन कहलाता है। कटाक्ष करना विवर्तन कहलाता है। पुतलियों का ऊपर की ओर घुमाना समुद्वृत्त है और पुतलियों का बाहर निकलना निष्क्राम है। तथा स्वाभाविक स्थिति में रहना प्राकृत कर्म है।

अग्निपुराण में तारिका का कार्य(ऑख चलाना) नौ प्रकार का माना गया है। नासिका की गति सोलह प्रकार की मानी गयी है और निःश्वास की गति नौ प्रकार की है।

नवधा तारकाकर्म भ्रमणं चलनादिकम्।
शोढ़ा च नासिका ज्ञेया निःश्वासो नवघामतः।।[3]

संगीतरत्नाकर में ताराकर्म के दो प्रकार बताए गए हैं। आत्मनिष्ठ और विषयाभिमुख। इनमें आत्मनिष्ठ ताराकर्म के नौ भेद बताए गए हैं। जो नाट्यशास्त्र में वर्णित भेदों के समान है। विषयाभिमुख के आठ भेद बताए गए हैं। नाट्यशास्त्र में इनका दर्शन(अवलोकन) के प्रकार के रूप में वर्णन किया गया है।[4]

---

(1) नाट्यशास्त्र 8/98—102
(2) नाट्यशास्त्र 107—108
(3) अग्निपुराण 341/11
(4) नाट्यशास्त्र 107—108

अभिनय लक्षण

अग्निपुराण में अभिनय की वर्ण्यवस्तु को दर्शकों के समक्ष लाने वाला अभिनय ही होता है। अभिनय चार प्रकार का होता है।

(1) सत्वाश्रय (2) वागाश्रय (3) अंगाश्रय (4) आहरणाश्रय

स्तम्भादि सात्विक भावों का प्रदर्शन सात्विक अभिनय कहलाता है। शरीर से सम्बद्ध अभिनय आंङ्गिक तथा बुद्धि से सम्बद्ध अभिनय आहार्य है।

आभिमुख्यं नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधैः।
चतुर्धा संभवः सत्ववागङ्गाहरणश्रयः।।
स्तम्भादिः सात्विको वागारम्भो वाचिक आंङ्गिकः।
शरीरारम्भ आहार्यो बुद्धू यारम्भप्रवृत्तयः।।[1]

नाट्यशास्त्र में पलकों के माध्यम से किया गया अभिनय पुटकर्म कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में पुटकर्म के नौ भेद बताए गए हैं। दोनों पलकों का विश्लेष(खोल देना) उन्मेष है और उनका संश्लेष(बन्द करना) निमेष है। पलकों का फैलाव प्रसृत कहलाता है और सिकुडना कुंचित कहलाता है। स्वाभाविक अवस्था में रहना सम कहलाता है और ऊपर की उठाना विवर्तित कहलाता है। पलकों का स्पन्दन(फाडना) स्फुरित है और बन्द करना विहित कहलाता है। पलकों का आहत होना विताड़ित कहलाता है।[2] इस प्रकार रस और भावों में पलकों के अभिनय का विधान बताया गया है। नासिका द्वारा किए गए कर्म नासिका अभिनय कहलाते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार नासिका के छः प्रकार होते हैं।

(1) नता (2) मन्दा (3) विकृष्टा
(4) सोच्छवासा (5) विकूणिता (6) स्वाभाविकी

---

(1) अग्निपुराण 342/1–2

(2) नाट्यशास्त्र 8/10–118 नृत्याध्याय 482–490
संगीतरत्नाकर 6/440–446

कपोल कर्म– कपोलों की विभिन्न स्थितियों द्वारा भावों का अभिनय करना कपोल अभिनय है। नाट्यशास्त्र में कपोलाभिनय के छः भेद बताए गए हैं।

(1) क्षाम (2) फुल्ल (3) पूर्ण (4) कम्पित (5) कुंचित (6) सम

नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर, नृत्यरत्नावली में भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही कपोलाभिनय के भेदों का वर्णन किया गया है। नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर, नृत्यरत्नावली में नाट्यशास्त्र के अनुसार ही कपोलाभिनय के भेदों का वर्णन किया गया है। क्षींण या चिपके हुए कपोल को ''क्षाम'' कपोल कहते हैं। विकसित अर्थात् फूले हुए कपोल को ''फुल्ल'' तथा उन्नत(ऊपर उठे हुए) कपोलों को ''पूर्ण'' कपोल कहते हैं। इसी प्रकार स्फुरित कपोलों को ''कम्पित'' तथा सिकुड़े हुए कपोल को ''कुंचित'' और स्वाभाविक दशा में स्थित कपोल को ''सम'' कहते हैं।

अधरोष्ठ कर्म–अधरों के द्वारा किया गया अभिनय अधरोष्ठ कर्म कहा जाता है– नाट्यशास्त्र में अधर कर्म के छः भेद बताए गए हैं।

(1) बिवर्तन (2) कम्पन (3) विसर्ग

(4) विनिगूहन (5) सन्दष्टक (6) समुद्‌ग

अग्निपुराण में अधर कर्म के छः भेद माने हैं, किन्तु उनके नाम नहीं गिनाए हैं। नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर और नृत्यरत्नावली में नाट्यशास्त्रोक्त छः भेद ही स्वीकार किए हैं। किन्तु नृत्याध्याय में अन्य आचार्यों के मत से चार भेद और बताए गए हैं। बिकासी, रेचित, उद्‌वृत्त और आयत। इस प्रकार उसके अनुसार अधर कर्म दस प्रकार का है। अधर का तिरछा सिकुड़ना विवर्तन (विवर्तित) कहलाता है। अधर का कम्पन ''कम्पित'' अधर और अधर का बाहर निकलना ''विसर्ग''(विसृष्ट) अधर कहा जाता है। अधर का भीतर की ओर ले जाना ''विनिगूहन'' और ओठ को दॉतों से काटना ''संदष्टक'' तथा ओठ को बाहर की ओर उन्नत करना ''समुद्‌ग'' अधर कहलाता है। इनके अतिरिक्त अन्य मतानुसार नृत्याध्याय में वर्णित अधर के कर्म हैं– अधर के ऊपर दॉत का

दिखायी देना ''विकासी'' साफ किया गया अधर ''रेचित'' मुख की ओर उठाया गया अधर ''उद्वृत्त'' और ऊपर के ओठ के साथ फैला हुआ अधर ''आयत'' कहलाता है।

चिबुक कर्म–चिबुक(ठोढी) के द्वारा किया गया अभिनय चिबुक कर्म कहा जाता है– यद्यपि ओष्ठादि के अभिनय से चिबुक के अभिनय का ज्ञान हो जाता है फिर भी सरलता से जानकारी के लिए उसका पृथक् रूप से यहॉ निरूपण किया जा रहा है। नाट्यशास्त्र में चिबुक के सात कर्म कहे गए हैं।

(1) कुट्टन (2) खण्डन (3) छिन्न (4) चुक्कित
(5) लेहित (6) सम (7) दष्ट।[1]

नृत्याध्याय एवं संगीतरत्नाकर में चिबुक कर्म के आठ भेदों का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में वर्णित चिबुक कर्म वास्तव में दन्त कर्म है। नाट्यशास्त्र और नृत्यरत्नावली में अलग से दन्तकर्म वर्णित नही है। उनके अनुसार चिबुक कर्म का निरूपण ही दन्त कर्म की निरूपण है। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में दन्तकर्म और चिबुक कर्म का अलग अलग निरूपण है।

दॉतों का किटकिटाना'कुट्टन' है। दॉतों का बार बार चबाना 'खण्डन' है। दॉतों का दृढता से मिलाना 'छिन्न' और दॉतों को दूर हटा लेना 'चुक्कित' है। जिह्वा से दॉतों का चाटना 'लेहित' और दॉतों का मिलाना 'सम' तथा दाम्जों से अधर को काटना 'दष्ट' कहलाता है।

---

(1) नाट्यशास्त्र 8/147–153

दन्त कर्म– दॉतों के द्वारा किया गया अभिनय दन्त कर्म कहा गया है। नाट्यशास्त्र और नृत्यरत्नावली में अलग से दन्त कर्म का निरूपण नहीं किया गया है वहॉ चिबुक कर्म को ही दन्त कर्म माना गया है। दन्त कर्म के आठ प्रकार हैं।

(1) सम	(2) छिन्न	(3) खण्डन	(4) चुक्कित
(5) कुट्टन	(6) दष्ट	(7) निष्कर्षण	(8) ग्रहण

भरत ने ग्रहण के स्थान पर लेहन कर्म बताया है जिह्वा दॉतों का चाटना लेहित कर्म है। इसीलिए भरत ने दन्त कर्म को चिबुक कर्म के अन्तर्गत मान लिया है। दॉतों का किंचित मिलाना 'सम' और दॉतों का दृढता से मिलाना 'छिन्न' कर्म कहा जाता है। दॉतों का बार बार मिलाना और हटाना 'खण्डन' कहलाता है। दॉतों का किटकिटाना 'कुट्टन' और दॉतों को दूर हटा लेना 'चुक्कित' कर्म है। दॉतों से होंठ को काटना 'दष्ट' और दॉतों को बाहर निकालना 'निष्कर्षण' कर्म कहलाता है। दॉतों से तृण आदि का ग्रहण करना (पकड़ना) ग्रहण कहलाता है।

जिह्वा कर्म– जिह्वा के द्वारा विभिन्न भावों का प्रदर्शन करना जिह्वा कर्म है। नृत्याध्याय में जिह्वा कर्म के छः भेद बनाए गए हैं।

(1) ऋज्वी	(2) लोला	(3) लेहनी
(4) वक्रा	(5) सृक्कानुगा	(6) उन्नता

जयसेनापति ने उन्नता के स्थान पर नता भेद माना है। खोले हुए मुख में फैलायी गई जिह्वा 'ऋज्वी' कहलाती है। खोले हुए मुख में लपलपाती जिह्वा को 'लोला' कहते हैं। दॉत और हौंठ चाटती हुई जिह्वा 'लेहनी' कहलाती है। आगे फैली हुई और अग्रभाग से झुकी हुई जिह्वा 'वक्रा' और होठ के प्रान्त भाग को चाटती हुई जिह्वा 'सृक्कानुगा' कहलाती है। फैलाये हुए मुख में ऊपर उठी हुई जिह्वा 'उन्नता' कही जाती है।

नासा कर्म– नता– यदि नासापुट का बार–बार संश्लेषण किया जाए तो 'नता' नासिका कहलाती है।

मन्दा– यदि नासापुट स्थिर हो तो 'मन्दा' नासिका होती है।

विकृष्टा– यदि नासापुट अत्यधिक फूला हुआ हो तो विकृष्टा नासिका और यदि नासापुट में श्वास खींचा जाय तो सोच्छ्वासा नासिका होती है। नासापुट सिकुड़े हुए हों तो विकूणिता नासिका और यदि स्वाभाविक रूप में स्थित हों तो स्वाभाविकी नासिका कहलाती है। अग्निपुराण, नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही नासिका के कर्म कहे गए हैं।

वायु कर्म– उच्छ्वास और निःश्वास क्रियाओं द्वारा किया गया अभिनय वायु कर्म कहलाता है। कोहल ने उच्छ्वास और निःश्वास के नौ भेद बताए गए हैं।

(1) स्वस्थ (2) चल (3) विमुक्त (4) प्रवृद्ध (5) उल्लासित
(6) निरस्त (7) स्खलित (8) प्रसृत (9) विस्मित

अन्य आचार्यों ने वायु कर्म के दस भेदों का उल्लेख किया है। सम, भ्रान्त, कम्पित, विलीन, आन्दोलित, स्तम्भित, दच्छ्वास, निःश्वास, सूत्कृत और सीत्कृत। उच्छ्वास का अर्थ है– श्वास को ऊपर खींचना। इसे दीर्घश्वास भी कहते हैं। निःश्वास का अर्थ है– श्वास का नीचे की और छोड़ना। नासा कर्म के अन्तर्गत नासावायु का उल्लेख है। मुखवायु का उल्लेख यहॉ किया गया है। संगीतरत्नाकर ने वायुकर्म को दो भागों में बॉटा है। प्रथम अपने मतानुसार तथा दूसरा कोहल के मतानुसार।

मुखज कर्म– मुख की भाव मुद्राओं द्वारा किया गया अभिनय 'मुखज कर्म' कहलाता है। नाट्यशास्त्र में मुखज कर्म के छः भेद बताए गए हैं– विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, विवृत्त, और उद्वाहि। तिरछा खुले हुए मुख को विधुत और खुले हुए मुख को 'निर्भुग्न' और थोड़ा फैला हुआ मुख 'व्याभुग्न'(भुग्न) कहलाता है। होठों के साथ खुला हुआ मुख 'विवृत्त' और ऊपर की ओर उठा

हुआ मुख 'उद्वाहि' कहलाता है। अग्निपुराण, नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में भी मुखज कर्म के छः भेद बताए गए हैं और उनके लक्षण और विनियोग भी उसी के अनुसार निर्दिष्ट है।

मुखराग– अभिनय में मुखराग का विशेष महत्व है, जिसके द्वारा धीर पुरुषों में रसात्मक चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। रसाभिव्यक्ति का हेतु होने से उसे मुखराग कहते हैं। नाट्यशास्त्र में मुखराग के चार प्रकार बताए गए हैं।

(1) स्वाभाविक (2) प्रसन्न (3) रक्त (4) श्याम

भरत के अनुसार मुखराग से युक्त नेत्रों का अभिनय भी अनेक प्रकार के रसों एवं भावों को स्फुट करता है, क्योंकि मुखराग में ही नाट्य प्रतिष्ठित है। अतः रस और भावों के आश्रित मुखराग का रस एवे भावों के अनुरूप नाट्य में प्रयोग करना चाहिए।

'स्वाभाविक' मुखराग स्वाभाविक अभिनय के आश्रित होता है। स्वच्छ मुखराग 'प्रसन्न' कहलाता है। इसका अद्भुत श्रृंगार एवं हास्य में प्रयोग किया जाता है। लाल मुखराग 'रक्त' कहलाता है। वीर, रौद्र और करुण रस में रक्त मुखराग का विनियोग होता है। काला मुखराग 'श्याम' कहलाता है। भयानक और वीभत्स रस में श्याम मुखराग का विनियोग किया जाता है। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में भी नाट्यशास्त्र के समान ही मुखराग काविवेचन किया गया है। भरत, अशोकमल्ल, शाङ्देव आदि आचार्यों का कहना है कि मुखराग रसात्मक और भावात्मक होजा है। मुखराग अंङ्ग का शोभाकारी होता है। ''जिस प्रकार रात्रि में चन्द्रमा दुगनी शोभा को प्राप्त करता है उसी प्रकार मुखराग से समन्वित होने पर आंङ्गिक अभिनय दुगुनी शोभा को धारण करता है।''

ग्रीवा अभिनय– मुख की चेष्टाओं के साथ ग्रीवा की स्थितियों का अत्यधिक महत्व है। यह ग्रीवा ही शिर को धड़ से मिलाती है और इसी पर ही शिर का सारा अभिनय आधारित है। नाट्यशास्त्र में ग्रीवा की नौ स्थितियॉ स्वीकार की गयी हैं– समा, नता, उन्नता, अस्रा, रेचिता, कुंचिता, अंचिता, वलिता और विवृता। अग्निपुराण, नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर और नृत्यरत्नावली में भी ग्रीवा की नौ स्थितियॉ स्वीकार की गयी हैं जो नाट्यशास्त्र के समानहै। अभिनव दर्पण में ग्रीवा की चार स्थितियॉ बतायी गयीं हैं– सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्तिता और प्रकम्पिता। भरतार्णव में ग्रीवा अभिनय की विवेचना नही है। अभिनव दर्पण में इनके स्वरूप के साथ विनियोग भी बताए गए हैं। अभिनव दर्पण और नाट्यशास्त्र दोनों की संख्या, लक्षण और विनियोगों में अन्तर पाया जाता है।

अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान ग्रीवा 'समा' कहलाती है और झुकी हुई ग्रीवा 'नता' कहलाती है। ऊपर की उठी हुई ग्रीवा 'उन्नता' और पार्श्व (बगल) में झुकी हुई ग्रीवा 'न्र्यास्रा' कहलाती है। कापती हुई अथवा घूमती हुई ग्रीवा 'रेचिता' ग्रीवा और नीचे की ओर थोड़ी झुकी हुईग्रीवा 'कुंचिता' कही जाती है। पीछे की ओर फैली हुई ग्रीवा 'अंचिता' और पार्श्व की ओर उन्मुख की जाने वाली ग्रीवा 'वलिता' ग्रीवा तथा सामने की ओर अभिमुख ग्रीवा 'निवृत्ता' कहलाती है। ये सभी प्रकार के ग्रीवा कर्म शिर की क्रिया के अनुगामी होते हैं। अतः शिरोऽभिनय के साथ ग्रीवाभिनय के कर्म भी प्रवृत्त होते हैं।

हस्ताभिनय– आंङि्गक अभिनय के भेदों में हस्ताभिनय का सर्वोपरि स्थान है। इसलिए भरत मुनि ने अन्य आंङि्गक अभिनयों की अपेक्षा हस्ताभिनय का विस्तार से विवेचन किया गया है। अभिनय की दृष्टि से ऐसा कोई भी नाट्यार्थ नहीं है जिसको रूप देने में हस्ताभिनय का प्रयोग न होता हो।

नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्येऽर्थोऽभिनयं प्रति।[1]

हस्ताभिनय के द्वारा ही मानव हृदय के सुख दुःखादि भावों की अभिव्यक्ति होती है किन्तु हाथों की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव एवं रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है। नाट्य प्रयोग में पात्र हस्तमुद्राओं के द्वारा न जाने कितने –कितने व्यंङ्ग अर्थों का प्रतिपादन करता है। अतः हस्ताभिनय के प्रसंङ्ग कें अर्थ युक्ति का अवेक्षण नितांन्त आवश्यक होता है। उसके द्वारा ही न जाने कितनी चमत्कारपूर्ण अर्थ परम्पराओं का सृजन होता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार हस्ताभिनय के मुख्यतः तीन भेद होते हैं– असंयुत, संयुत और नृतहस्त। इसमें असंयुत हस्त के चौबीस, संयुत हस्त के तेरह और नृतहस्त के तीस प्रकार होते हैं। भरत, जयसेनापति, शाङ्र्गदेव, अशोकमल्ल आदि आचार्यों ने भी हस्ताभिनय के असंयुत और संयुत ये दो ही भेद स्वीकार किए हैं।

---

(1) नाट्यशास्त्र 9/162

असंयुत— एक हाथ से किए जाने वाले अभिनय को असंयुत कहते हैं। असंयुत हस्त के चौबीस भेद बताए गए हैं—

(1) पताक	(2) त्रिपताक	(3) कर्न्तरीमुख	(4) अर्द्धचन्द्र
(5) अराल	(6) शुकतुण्ड	(7) मुष्टि	(8) शिखर
(9) कपित्य	(10) टिकामुख	(11) सूचीमुख	(12) पद्यकोश
(13) सर्पशीर्ष	(14) भृगशीर्ष	(15) कांङ्गुल	(16) अलपद्य
(17) चतुर	(18) भ्रमर	(19) हसांस्य	(20) हंसपद्य
(21) सन्दंश	(22) मुकुल	(23) ऊर्णनाभ	(24) ताम्रचूण

असंयुतः संयुतश्च भूम्नाहस्तः प्रयुज्यते।
पताकस्त्रिपताकश्च तथा वै कर्तरीमुखः।।
अर्धचन्द्रोत्करालश्च शुकतुण्डस्तथैव च।
मुश्टिश्च षिखरश्चैव कपित्यः कटकामुखः।।
सूच्यास्यः पद्मकोशोहि शिराः समृगशीर्षकः।
का मूलकाल पद्मौ च चतुरभ्रमरौ तथा।।[1]

असंयुत हस्तों में सर्वप्रथम पताक हस्त है। इस ीस्त का उद्भव ब्रह्मा से माना जाता है। इसका वर्ण श्वेत, देवता विष्णु और जाति ब्राह्मण है। एक बार ब्रह्मा ने विष्णु के पास जाकर उनकी वन्दना की। उस समय विष्णु का हस्त पताका(ध्वज) के समान हो गया, तब से इस हस्त को पताक हस्त कहा जाने लगा।

त्रिपताक हस्त भी पताक हस्त के समान होता है, इसमें केवल अनामिका अङ्गुली वक्र होती है। 'कर्तरीमुख' भी त्रिपताक के समान होता है। केवल इसकी तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी हुई होती है।

---

(1) अग्निपुराण 341 / 13—14—15

'चतुर हस्त' में तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तनिों अगुलियॉ प्रसारित होती हैं। मानव– जीवन के सुकुमार भावों का अभिनय चतुर हस्त के द्वारा होता है। यदि पताक– हस्त मुद्रा में अगूठे को बाहर की ओर सीधे प्रसारित कर दिया जाये तो उसे 'अर्द्धचन्द्र' हस्त कहते हैं। कृष्ण पक्ष की अष्टमी के चन्द्रमा तथा किसी के गले को पकड़ने में इस हस्त का प्रयोग होता है। यदि पताक हस्त में तर्जनी को मोड़ दिया जाये तो अराल हस्त कहा जाता है और अराल हस्त मुद्रा में अनामिका को वक्र कर दिया जाये तो 'शुक तुण्ड़' हस्त होता है। मुष्टि शिखर और कपित्य ये तीन हस्त मुद्राऍ एक दूसरे के अधिक निकटवर्ती हैं। जिस हाथ की चारों अगुलियॉ हथेली के अन्दर झुकी हुई हों और उनके ऊपर अंगूठा हो तो उसे मुष्टि हस्त कहते हैं। यदि मुष्टि हस्त में अंगूठा ऊपर उठा दिया जाये तो शिखर हस्त कहा जाता है और जब शिखर हस्त की मुद्रा में तर्जनी वक्र होकर अंगूठे से दाबी जाय तो 'कपित्य' हस्त होता है। केश ग्रहण, मल्लयुद्ध आदि के अभिनय में मुष्टि हस्त, काम, धनुष आदि के भावों के प्रदर्शन में कपित्य हस्त का विनियोग होता है। यदि कपित्य हस्त में तर्जनी वक्र कर दिया जाय और अंगूठे के मध्य भाग का स्पर्श करती हो तो 'कटका मुख' हस्त होता है और कटका मुख में यदि तर्जनी को सीधे फैला दिया जाय तो सूची हस्त कहलाता है तथा सूचीमुख– हस्त मुद्रा में यदि अंगूठे को खोल दिया जाय तो चन्द्रकला हस्त होता है। पुष्पा वचय आदि में कटकामुख, परब्रह्म भावना आदि में सूची तथा चन्द्र, मुख आदि के प्रदर्शन में चन्द्रकला हस्त का प्रयोग होता है। भरतार्णव में चन्द्रकला के स्थान पर वाण हस्त मुद्रा का वर्णन है।

'पद्मकोष' हस्त की सभी ॲगुलियॉ अलग–अलग फैलती रहती हैं, सभी को मोड़कर झुका दिया जाता है इसके द्वारा विल्व, स्त्रियों के कुच आदि का प्रदर्शन किया जाता है। तब 'सर्पशीर्ष' हस्त कहलाता है। चन्दन, सर्प आदि के अभिनय में इसका विनियोग होता है। सर्पशीर्ष हस्त में कनिष्ठा और अंगूठे को फैला दिया जाय तो मृगशीर्ष हस्त कहलाता है। स्त्रियों के कपोल आदि के प्रदर्शन में इसका विनियोग रहता है।

यदि मध्यमा और अनामिका को अंगूठे से मिला दिया जाय और शेष अंगुलियॉ फैला दी जाय तो सिंहमुख हस्त होता है। जब 'पद्यकोष' हस्त में अनामिका को मोड़कर झुका दिया जाय तो 'काङ्गूल' हस्त कहलाता है। छोटे फल आदि का प्रदर्शन इसके द्वारा किया जाता है। यदि समस्त अंगुलियॉ किंचित टेढ़ी कर दी जाय और वे परस्पर अलग रहें तो अलपद्य हस्त कहलाता है। विकसित कमल, कुचमण्डल आदि के भाव में इसका विनियोग किया जाता है। भ्रमर–हस्त मुद्रा में मध्यमा और अंङ्गुष्ठ परस्पर संयुक्त होते हैं। नाट्यशास्त्र और अभिनय दर्पण में भ्रमर हस्त का लक्षण समान है। किन्तु भरतार्णव में कुछ भिन्न है। अभिनव दर्पण के अनुसार शुक, सारस आदि पक्षियों तथा भरतार्णव के अनुसार योग, मौन व्रत, गजों के दन्त प्रहार आदि भावों के प्रदर्शन में भ्रमर हस्त का प्रयोग होता है। हंसास्य(हंस पक्ष, संन्दश, मुकुल, ऊर्णनाभ और ताम्रचूर्ण) हस्त मुद्राएं परस्पर एक दूसरे के बहुत निकट हैं। हंसास्य हस्त मुद्रा में मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका ये तीनों अंगुलियॉ फैली हुई होती हैं और तर्जनी एवं अंगूठा परस्पर मिले हुए होते हैं। यदि सर्पशीर्ष हस्त में कनिष्ठिका अंगुली को फैला दिया जाय तो हंस पक्ष कहा जाता है। यदि पद्मकोश– हस्त मुद्रा में अंगुलियॉ बार–बार सटायी और हटायी जाती हैं तो उसे संन्दश हस्त कहते हैं यदि पॉचों अगुलियों को एक साथ मिला दिया जाय तो मुकुल हस्त होता है। मुकुल हस्त में तर्जनी को वक्र कर दी जाय तो ताम्रचूड़ हस्त होता है। असंयुत हस्ताभिनयों में पताका, पद्यकोश, सूचीमुख, मुकुल, भ्रमर और चतुर आदि हस्त मुद्राएं प्रमुख हैं। इनके द्वारा अनेक नई–नई हस्त मुद्राओं का सृजन होता है।

संयुत हस्त– दोनों हाथों के द्वारा परस्पर मिलकर किए जाने वाले अभिनय को संयुत हस्त कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार असंयुत की विभिन्न मुद्राओं के समन्वय से ही संयुत हस्त की मुद्राओं की रूप रचना होती है। संयुत हस्त वस्तुतः असंयुत हस्त के ही विकसित एवं परिवर्तित विभिन्न रूप हैं। नाट्यशास्त्र में संयुत हस्त के तेरह भेद बताए गए हैं–

(1) अंजलि (2) कपोत (3) कर्कट (4) स्वस्तिक (5) कटकावर्धमान (6) उत्सङ्ग (7) निषध (8) दोल (9) पुष्पपुट (10) मकर (11) गजदन्त (12) अवहित्थ (13) वर्द्धमान

अग्निपुराण नृतरत्नावली तथा संगीतरत्नाकर ने तेरह भेद बताए हैं। अभिनव दर्पण में संयुत हस्त के तेइस भेद निर्दिष्ट हैं, किन्तु भरतार्णव में संयुत हस्त के सोलह भेद निर्दिष्ट किए हैं।

असंयुत कराः प्रोक्ताः संयुतास्तु त्रयोदश।
अंजलिश्चकपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा।।
दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च।
गजदन्तो वहिःस्तम्भो वर्धमानोऽवरे कराः।।

अंजलि एक प्रसिद्ध संयुत हस्त मुद्रा है। यदि दो पताक हस्त मुद्राओं को परस्पर जोड़ दिया जाय तो अंजलि हस्त मुदगा होती है। दोनों हाथों के पार्श्वों को परस्पर मिला दिया जाय कपोत हस्त कहलाता है। दोनों हाथों की अंगुलियॉ परस्पर एक दूसरे से ग्रथित हों तो कर्कट हस्त कहलाता है। यदि मणिबन्ध पर विन्यस्त दो अराल हस्तों को उत्तान करके वाम पार्श्व में रख दिया जाय तो स्वस्तिक हस्त कहलाता है। कर्कट हस्त को कटक हस्त पर रख दिया जाय तो कटका 'कटकावर्द्धमानक' हस्त होता है। यदि दोनों अराल हस्त स्वस्तिक हस्त मुद्रा में उत्तान रख दिए जांए तो उत्सङ्ग हस्त कहलाता है। मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त के द्वारा परिवेष्टित कर दिया जाता है तो निषध हस्त कहलाता है। जिस हस्त के दोनों कन्धे शिथिल हों और दोनों पताक हस्त प्रलम्बित (हिलते हुए) हों तो दोल(दोला) हस्त कहलाता है। सर्पशीर्ष हस्त की संहत अंगुलियॉ यदि द्वितीय पार्श्व में संश्लिष्ट (सटी हुई) हों तो उसे पुष्पपुट हस्त कहते हैं। यदि दो पताक हस्त ऊपर की ओर उठे हुए हों और अंगूठा अधोमुख हो तथा दोनों को एक दूसरे के ऊपर रख दिया जाय तो मकर हस्त होता है। यदि दो सर्पशीर्ष हस्तों की कोहनी और कन्धों पर रख दिया तो गजदन्त हस्त होता है। यदि दोनों शुकतुण्ड हस्तों को वक्षःस्थल पर सामने की ओर से अंचित

कर धीरे धीरे अधोमुख आविद्ध कर दिया जाय तो 'अवहित्थ' कहलाता है। जब मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से परिवेष्टित कर दिया जाए तो वर्धमान हस्त समझना चाहिए।

नृत्त हस्त– नाट्योपयोगी हस्तों का विवेचन करने के बाद अब नृत्तहस्तों का निरूपण करते हैं। नृत्तहस्त, हस्त पदादि के सामंजस्य से सौन्दर्य उत्पन्न हरते हैं और नृत्य को शोभायुक्त बनाते हैं। अंङ्ग प्रत्यङ्गों के सौन्दर्यवर्द्धन में नृत्त हस्तों का बड़ा हाथ रहता है। अभिनय दर्पण में तेरह नृत्तहस्तों का निरूपण है। नृत्तरत्नावली और संङ्गीतरत्नाकर में नाट्यशास्त्र के समान तीस नृत्तहस्तों का विवेचन है। इन नृत्तहस्तों की रूप रचना असंयुत और संयुत हस्ताभिनय के विविध रूपों के आधार पर होती है। अभिनय की प्रधानता होने पर ये नाट्यहस्त और नृत्य की प्रधानता होने पर नृत्तहस्त कहे जाते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार तीस नृत्तहस्त हैं–

(1) चतुरस्र (2) उद्‌वृत्त (3) तलमुख (4) स्वस्तिक
(5) विप्रकीर्ण (6) अरालखटकामुख (7) आविद्धवक्र (8) सूचीमुख
(9) रेचित (10) अर्धरेचित (11) उत्तानवंचित (12) पल्लव
(13) नितम्ब (14) केशबन्ध (15) लता (16) करि
(17) पक्षवंचित (18) पक्षप्रद्योत (19) गरुण पक्ष (20) ऊर्ध्वमंण्डलिन्
(21) दण्डपक्ष (22) पार्श्वमंण्डलिन्(23) उरोममंण्डलिन् (24) उरःपार्श्वार्थमंण्डल्
(25) मुष्टिकस्वस्तिक (26) नलिनीपद्यकोश (27) उल्वण (28) ललित
(29) वलित (30) अलपल्लव

नाट्य और नृत्य हस्ताभिनय का सर्वाधिक महत्व है। उनके द्वारा मानव अपने मानसिक विचारों को अभिव्यक्त करता है हाथ तथा ॲगुलियों के द्वारा ही स्वीकृति–अस्वीकृति, प्रकाशन तथा गोपन, ग्रहण तथा मोचन, विश्वास एवं सान्त्वना आदि भावों को प्रकट किया जाता है। अंगुलियों के द्वारा मानसिक

भावों को हथेली के द्वारा अनुभवों एवं उत्तेजनाओं को और हांथ के पृष्ठ भाग के द्वारा शारीरिक शक्ति को अभिव्यक्त किया जाता है।

नन्दिकेश्वर ने इन हस्त चेष्टाओं का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने हाथों से सम्पन्न होने वाले नानाभावरसाश्रित अभिनयों, मुद्राओं, चेष्टाओं के नाभ रूप, लक्षण एवं विनियोग आदि का भी समुचित वर्णन किया है।

उरःकर्म– हृदय (उरस्) के पॉच कर्म कहे गए हैं– आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम। यदि उर सामने नत हो, पृष्ठ उन्नत हो, स्कन्ध झुके हुए और शिथिल हों तो आभुग्न उर कहलाता है। यदि उर स्तब्ध, पृष्ठ निम्न (नत), स्कन्ध निर्भुग्न एवं समुन्नत हों तो निर्भुग्न उर कहलाता है। जहॉ पर ऊर्ध्वक्षेप से उर में कम्पन होता है उसे प्रकम्पित उर कहते हैं। ऊपर उठे हुए उरको उद्वाहित उर कहते हैं। चतुरस्र सौष्ठव युक्त सभी अंङ्गों के विन्यास से सम उर होता है। सम्भ्रम, शोक, भय, मूर्छा, व्याधि, शीत, वर्षा, लज्जा, स्तम्भ, मानग्रहण, विस्माय–दृष्टि, दर्प, गर्व, हॅसी, रोदन, श्रम, श्वास, जॅभाई लेने आदि भावों के प्रदर्शन में इनका प्रयोग होता है।

पार्श्व कर्म– नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्तित और अपसृत। ये पॉच प्रकार के पार्श्व कर्म कहे गये हैं। यदि कटि व्याभुग्न, पार्श्व आभुग्न और स्कन्ध कुछ अपसृत हों तो 'नत' पार्श्व कहलाता है। यदि नत पार्श्व का अपर पार्श्व विपरीत हो और कटि, पार्श्व स्कन्ध ऊपर उठे हुए हों, तो समुन्नत पार्श्व होता है। यदि त्रिक को परिवर्तित कर दिया जाय तो 'विवर्तित' पार्श्व होता है और विवर्तित पार्श्व के अपनयन से 'अपसृत' पार्श्व कहा जाता है।

उदर कर्म– क्षाम, खल्व और पूर्ण, ये तीन प्रकार के उदर कर्म होते हैं; अशोक मल्ल, शारंङ्गदेव आदि आचार्य उदर के क्षाम, खल्व, सम और पूर्ण ये चार प्रकार मानते हैं। इनमें क्षीण उदर क्षाम नत उदर खल्व और भरा हुआ उदर पूर्ण कहलाता है। हास्य, रोदन, निःश्वास और जॅभाई लेने में क्षाम उदर,

व्याधि, तपस्या, श्रम एवं भूख में खल्व, उदर और उच्छ्वास व्याधि, अति भोजन स्थूलता आदि में पूर्ण उदर होता है।

कटि कर्म– छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता और उद्वाहिता ये पॉच प्रकार के कटि कर्म कहे गये हैं। मध्य भाग में वलन से छिन्ना, कटि, पराङ्मुख व्यक्ति की ओर निवर्तित होने वाली कटि निवृत्ता, चारों ओर घूमने वाली कटि रेचिता, तिरछे आने जाने वाली कटि प्रकम्पिता और नितम्ब एवे पार्श्व भाग से उद्वहन करने वाली कटि उद्वाहिता कहलाती है।

ऊरु कर्म– ऊरु कर्म के द्वारा किया गया अभिनय ऊरु कर्म कहलाता है नाट्यशास्त्र में ऊरु कर्म के पॉच भेद बताए गए हैं– कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्धर्तन और निवर्त्तन। एड़ी के बार–बार नमन–उन्नमन से कम्पन ऊरु होता है, और यदि जानु भीतर की ओर हो तो बलन नामक ऊरु कहा जाता है तथा यदि ऊरु निष्क्रिय हो तो उसे स्तम्भन ऊरु कहते हैं। ऊरु के वलित एवे आविद्ध करने से उद्वर्तन होता है और यदि पैर की एड़ी भीतर की ओर चली जाय तो निवर्तन ऊरु कहलाता है।

जंङ्घा कर्म– नाट्यशास्त्र में जंङ्घा के पॉच प्रकार कहे गये हैं– आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्धाहित और परिवृत्त। यदि बॉये पैर को दाहिने और दाहिने पैर को बॉयें पार्श्व की ओर घुमा दिया जाए तो 'आवर्तित' जंङ्घा होती है। जंङ्घा के आकुंचन होने से नत जंङघा कहलाती है। जंङ्घा को यदि ऊपर ओर उठाया जाय तो 'उद्वाहित' और जंङ्घा को यदि पीछे की ओर मोड़ दिया जाय तो परिवृत्त जंङ्घा कहलाती है।

पादाभिनय– पैरों से किया जाने वाला अभिनय पादाभिनय कहलाता है, नाट्यशास्त्र के अनुसार पादाभिनय के पॉच भेद होते हैं– उद्घट्टित, सम, अग्रतल, सच्चर, अंचित और कुंचित।

भरतार्णव में प्रथम पादाभिनय के सात भेद बताए गए हैं। नाट्य और नृत्य दोनों के लिए चारी का महत्व स्वीकृत है। भरत ने नाट्यशास्त्र में कटि,

पार्श्व, ऊरु जंङ्घा और पाद द्वारा किए जाने वाले अभिनय के समीकरण को चारी कहा है।

एवं पादस्य जङ्घायाः ऊर्वोः कट्यास्तयैव च।

समानकरणाच्चेश्टा सा चारीत्याभिधीयते।।[1]

किन्तु साथ ही शिर, हस्त एवं वक्ष का सामंजस्य भी अपेक्षित है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार जिस पैर के तलवे के अग्रभाग से स्थित होकर एड़ी को भूमि पर गिराया जाय तो उसे उद्घट्टित पाद कहते हैं। स्वाभाविक रूप से सममतल भूमि पर स्थित पाद को समपाद कहते हैं, इसी प्रकार यदि एड़ी उठी हुई हो और अंगूठा फैला हुआ हो तथा समस्त अंगुलियॉ अंचित हों तो अग्रतल सच्चर पाद होता है। जिस पैर की एड़ी भूमि पर अंचित हों और पैर का अग्रतल आगे की ओर हो तथा सारी अंगुलियॉ फैली हुई हों तो अंचित पाद कहलाता है। जिस पैर की एड़ी ऊपर उठी हुई हो तथा अंगुलियॉ और मध्यभाग कुंचित हो तो उसे कुंचित पाद कहते हैं।

चारी– भरत का कहना है कि जो यह नाट्य तत्व प्रस्तुत किया गया है उसका आधार चारी ही है, नाट्य में चारी के बिना कोई अंङ्ग प्रवृत्त नहीं होता चारी से ही नृत्त प्रस्तुत किया जाता है, चारी से ही सारी चेष्टाएं होती हैं, चारी से ही शस्त्र छोड़े जाते हैं और चारी का प्रयोग युद्ध में भी होता है। नाट्य में चारी का विशेष महत्व होता है, क्योंकि चारी के द्वारा ही अभिनय सम्पन्न होता है। नाट्य का समस्त प्रयोग चारी पर ही आधारित होता है।

---

(1) नाट्यशास्त्र 10/1

रस आदि के विनियोग का लक्षण– नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व रस है। रस के आदि प्रतिष्ठाता भरत माने जाते हैं किन्तु नाट्यशास्त्र से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भरत के पूर्व भी रस मीमांसा की परम्परा विद्यमान रही है। जैसा कि भरत ने नाट्यशास्त्र, रस एवं भावों के विवेचन के अवसर पर अपने विचारों के समर्थन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आनुवंश्य श्लोक एवं आर्यायें उद्धत कीं हैं। एक स्थल पर तो उन्होंने रस शास्त्र पर रचित एक ग्रन्थ (काव्यमाला) का उल्लेख भी किया है।[1] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरत के पूर्व रस विवेचन की परम्परा विद्यमान थी। राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रस का आधिकारिक विद्वान के रूप में उल्लेख किया है।

रसाधिकारिकं नान्दिकेश्वरः।।[2]

भरत ने नाट्य के प्रसंङ्ग में रस का जैसा मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वह नाट्यशास्त्र में सर्वथा मौलिक एवं मनोहारी प्रसंङ्ग है। उनकी दृष्टि में रस नाट्य रचना के लिये उतना महत्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई काव्यार्थ ही प्रवृत्त नहीं होता है।

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।।[3]

नाट्यशास्त्र के मुख्य विवेच्य विषय चार हैं, अभिनय, नृत्य, सेगीत और रस। किन्तु इनमें रस प्रमुख है। भरत ने जिन जिन विषयों का नाट्यशास्त्र में प्रतिपादन किया है। उन सबका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रस के साथ हैं। क्योंकि रस की स्फुटीकरण के सम्बन्ध में ही उनकी चर्चा की गई है।

---

(1) नाट्यशास्त्र पृष्ठ 67

(2) काव्यमीमांसा पृष्ठ 1

(3) नाट्यशास्त्र भाग 1 पृष्ठ 272

रस का स्वरूप— रस में एक गुण माना गया है, जिसका ज्ञान हमें रसेन्द्रिय द्वारा होता है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से ये रस छः प्रकार के होते हैं।

मधुराम्ललवणकटुकशायतिक्तभेदेन शङ्विद्याः।।[1]

आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार— रस एक सफेद द्रव पदार्थ है।[2] जो पाचन क्रिया की सहायता से भोजन उत्पन्न होता है। यह मुख्यतः हृदय में रहता है और वहॉ से परिचालित होकर धमनियों में होते हुये समस्त शरीर का पोषण करता है। सामान्यतः फल पुष्पादि से निःसृत द्रव पदार्थ को रस कहते हैं। किन्तु इनका अन्तर्भाव उपर्युक्त षड्स कें हो जाता है। इसके अतिरिक्त पारद, विषय सार, जलसंस्कार, अभिनिवेश क्वाथ, देहधातु के सार के रूप में रस शब्द की प्रसिद्ध है, अन्यत्र नहीं।

मधुरादौ पारदे बिशये सारे जलसंस्कारऽभिनिवेशे क्वाथे।
देहधातोर्निर्यासे वाऽयं प्रसिद्धो न त्वन्यत्र।।[3]

अभिनव गुप्त का कथन है कि जिस प्रकार व्यंजन और द्रव्यों से सुसंस्कृत अन्न का आस्वादन एकाग्रचित्त आस्वादायिता ही कर सकता है, उसी प्रकार नाना भावों से अभिव्यजिंत तथा अभिनयों से सुसमृद्ध स्थायी भाव रूप रस का आस्वादन एकाग्रचित्त सहृदय सामाजिक करता है और आलौकिक आनन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार रस का एक मात्र आस्वादायिता सहृदय सामाजिक ही होता है। क्योंकि नाट्य प्रयोग तो सुमना (सहृदय) सामाजिक के लिये होता है। रस आस्वाद्य होता है, तथा आस्वाद्य होने के कारण उसे रस कहा जाता है।

---

(1) तर्कसंग्रह
(2) शाब्दार्थचिन्तामणि भाग 4 पृष्ठ 71
(3) अभिनव भारती भाग 1 पृष्ठ 288

यह रस नाट्य समुदाय से समुद्भूत होता है, अतः समुदाय रूप अर्थ नाट्य है और नाट्य ही रस है, यह रस एक है और यही मुख्यभूत महारस है। केवल नाट्य कें ही रस नहीं होता अपितु काव्य में भी नाट्यायमान ही रस होता है।

नाट्यत्समुदाय रूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः।।
रस समुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसाः।।
काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः।[1]

अभिनव गुप्त का कथन है कि नाट्य का मुख्य उद्देश्य सामालिकों को रसानुभूति कराना है। जिस नाट्यशास्त्र की अनुभूति होती है, वह महारस है । वह एक है और अन्य रस उसी महारस के अंङ्गभूत है। वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार पदस्फोट में वर्णों का और वाक्य स्फोट में पदों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है। उसी प्रकार नाटक क प्रधानभूत महारस में अन्य रसों का स्वतंन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसप्रकार वैयाकरण वर्ण विभाग रहित पदस्फोट और पद विभाग रहित वाक्यस्फोट के ही अर्थ का बोधक मानते हैं। एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हुये अभिनव गुप्त कहते हैं कि उस प्रधान भूत महारस की अपेक्षा अन्य रस अन्विताभिधान के समान उभयात्मक सत्य है। तथापि वाक्यार्थ बोध के समय उनकी अलग अलग प्रतीति होती है। उसी प्रकार नाटक में अन्य रस गौण होते हैं। वे समुदाय रूप में प्रधान रस का ज्ञान कराते हैं।[1]

---

(1) अभिनव भारती

अभिनव गुप्त अपने गुरु भट्टतौत का मत प्रस्तुत करते हुये कहते हैं, कि रस की स्थिति केवल नाट्य में ही नही होती अपितु काव्य में भी उसकी स्थिति स्वीकृत है। काव्य में दशरूपकों के समान भाषा, वृत्ति, काकु एवं नेपथ्य आदि के द्वारा रसात्मकता का पूर्ण विकास होता है– काव्य में केवल सहृदय ही रसास्वादन कर सकते हैं। अतः नाट्य सबसे विलक्षण है, कुछ व्याख्याकार नट के कर्म रूप धर्म को नाट्य कहते हैं और उस नाट्य से समुद्भूत रस को नाट्यरस कहते हैं। (आचार्य नन्दिकेश्वर, जिन्हें राजशेखर ने रस का आधिकारिक विद्वान बताया है।)

रसाधिकारिकं नंन्दिकेश्वर[1], उनके अनुसार चतुर्विधाभिनयोपेत भावाव्यक्ति ही रस है। उन्होंने रसास्वादन के विषय में एक मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में रस आनन्द रूप है। गीत के श्रवण नाट्य एवं नृत्य के दर्शन से आलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जो ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। यही आनन्द रसानुभूति है। यह आनन्द रूप रस का आस्वाद हर जगह मिलता है। चाहे कथावस्तु कारुणिक हो अथवा श्रंङ्गारिक सबमें एक सा आस्वाद मिलेगा। यह आस्वाद ही रस है और ही आनन्द है।

---

(1) काव्यमीमांसा प्रथम अधिकरण

अग्निपुराण में परब्रह्म को अक्षर, अज, सनातन, विशु एक चैतन्य, स्वयं प्रकाश एवं ईश्वर कहा गया है। उसका आनन्द सहज है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कभी कभी होती है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य चमत्कार या रस है।

अक्षर परमं ब्रह्म सनातन भजं विभुम्।
बेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्ररम्।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्या।।[1]

इसप्रकार अग्निपुराण के अनुसार पर ब्रह्म के सहजानन्द की चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति रस है। उस पर ब्रह्म चैमन्य का सत्व रजस्तमस् रूप प्रथम विकार महान (महतत्व) हैं। उससे अभिमान या अहंङ्कार की अभिव्यक्ति होती है।

संस्कृत साहित्य में रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में प्राचीन काल से किया जाता रहा है। वेद, वेदाङ्ग, ब्राह्मण, उपनिषद्, आयुर्वेद, रामायण, महाभारत आदि साहित्य में रस पद का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। कोष ग्रंन्थों के अनुसार रस पद के अनेक अर्थ हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद में ब्रह्म को रस कहा गया है। उसको प्राप्त करके जीव आनन्द का अनुभव करता है। इसकी व्याख्या में शंङ्कराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार मधुर आदि लौकिक रसों से मनुष्य आनन्दित होता है। उसी प्रकार परमात्मरूप रस को पाकर योगीजन परम आनन्द को प्राप्त करते हैं।

वैदिक साहित्य में श्रंङ्गार आदि साहित्यिक रसों के लिये भी रस शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रंङ्गार, हास्य आदि मनोभावों का निर्देश मिलता है। भरत ने रूपकों की रचना में रस को, वेदों से विशेष रूप से अथर्ववेद से ग्रहण किया है।

व्याकरण के अनुसार रस पद की उत्पत्ति चार प्रकार से की जाती है।

(1) **''रस्यते आस्वाद्यत् इति रसः''**

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन पदार्थों का आस्वादन किया जाता है। वे रस हैं। इस प्रकार परमात्मरूप रस मधुर पदार्थ, सोम, गन्ध, मधु आदि पदार्थों को रस कहा जाता है।

(2) **''रस्यते अनेन इति रसः''**

जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है। उनको भी रस कहते है। इस आधार पर शब्द, राग वीर्य, शरीर आदि को रस कहते हैं।

(3) **''रसति रसयति वा रसः''**

जे व्याप्त हो जाता है या व्याप्त कर लेता है। उसको रस कहते हैं। इस प्रकार पारद, जल, शरीर की रस धातु या अन्य द्रव पदार्थों को रस कहते हैं।

(4) **''रसनं रस आस्वादः''**

जे आस्वाद है उसको रस कहते हैं। इस आधार पर श्रंङ्गार आदि को रस कहते हैं। क्योंकि वे आस्वाद रूप है।

रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन– रस के स्वरूप तथा अनुभूति का सर्वप्रथम विवेचन भरत ने किया था। भरत का यह विवेचन उनके नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रस सूत्र के रूप में प्रकट हुआ था। उत्तरवर्ती युग में रस के सम्बन्ध में जो भी विचार तथा आलोचना प्रस्तुत किये गये थे, वे भरत के रस सूत्र को आधार बनाकर प्रस्तुत किये गये हैं। भरत का यह रस सूत्र निम्न है–

''विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्र रस निष्पत्तिः''

विभाव–अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने रस की निष्पन्नता में भरत के इसी रस सूत्र को आधार बनाया। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ के अभिमत को प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी है। मम्मट ने लिखा है–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीण यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणीः।
व्यक्तः सः स तैर्विभावद्यैः स्थायी भावों रसः स्मृतः।।

लोक में रति आदि भावों के जो कारण कार्य तथा सहकारी हैं। जैसे नायक नायिका आदि आलम्बन कारण हैं। चन्द्रोदय, बसन्त, उद्यान आदि उद्दीपन कारण है। कटाक्ष रोमांच आदि कार्य हैं और चिन्ता, हर्ष आदि सहकारी है। उनका जब काव्य या नाटक में निबन्धन किया जाता है, तब वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इन विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता हुआ स्थायी भाव ही रस कहलाता है। विश्वनाथ के साहित्य दर्पण में भी रस की निष्पन्नता इसी प्रकार की है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सच्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।।

विभाव अनुभाव और सच्चारी भावों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता हुआ रति आदि स्थायी भाव सहृदयों के लिये रसत्व को प्राप्त करता है।

अग्निपुराण की रस व्याख्या दार्शनिक धरातल पर पल्लवित हुई हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार समस्त अनुभूतियों का आश्रय अन्तःकरण का मूल अहंङ्कार है और वेदान्त की दृष्टि में जब शुद्ध चैतन्य अहमस्मि के धरातल पर अवतरित होता है, तभी अहम् तत्व की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अग्निपुराण में प्रतिपादित अहंङ्कार मनुष्य में अपने प्रति अनुराग द्योतित करता है और इसी अहं भाव के कारण उसे अपने व्यंतिव का आभास होने लगता हैं। जैसे— किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास, आत्मानुराग की भावना जागृत होकर उसे सहज आनन्द में विभोर कर देती है। यही अहंङ्कार है और यही अहंङ्कार रस है।

आचार्य भोज ने अग्निपुराण के रस सिद्धान्त का ही अनुसरण किया है। उन्होंने अहंङ्कार को अभिमान का पर्यायवाची माना है। उनके मतानुसार आत्मा

का अहंङ्कार विशेष ही श्रंङ्गार है और वह सहृदयों के द्वारा रस्यमान होने से रस कहलाता है।

आत्मनोऽहंङ्कारविशेषः सचेतसा रस्यमानो रस उच्यते।।[1]

विश्वनाथ के पितामह आचार्य नारायण पंण्डित के अनुसार चमत्कार ही रस का सार है। इसका अनुभव पुण्यशाली सहृदय ही करते हैं। सहृदय व्यक्ति ही विभावादि से अनुविद्ध आत्मानन्द का आस्वाद लिया करते हैं। वस्तुतः रस और आस्वाद में कोई तात्विक भेद नहीं है।

दशरूपकावलोककार धनिक तथा साहित्यदर्पण विश्वनाथ आदि सभी रसों को सुखात्मक मानते हैं। उनके अनुसार नाट्यगत करुण रस को लौकिक करुण रस से सर्वथा विलक्षण होता है। यदि नाट्य करुण को लौकिक करुण के समान दुःखात्मक मानोगे तो करुण प्रधान रामायण आदि महाकाव्य दुःख के हेतु बन जायेंगे। दुःखात्मक नाट्य की ओर सामाजिक प्रवृत्त क्यों होते हैं? अतः करुण तस पूर्णतया सुखात्मक है।[2]

विश्वनाथ करुण रस की आनन्दता का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि सहृदय सामसजिक को शोक स्थायीभावात्मक करुण आदि रसों में परम आनन्द की प्राप्ति होती है। इन विषय में सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है।

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।[3]

भरत के नाट्यशास्त्र में अभिनव गुप्त की अभिनव भारती टीका में और ध्वन्यालोक की लोचन टीका में जब अपनी व्याख्या प्रस्तुत की तो उसने पहले अपने से प्राचीन भट्टलोल्लट आदि की व्याख्याओं की समीक्षा की इनमें भट्टलोल्लट, शंङ्कुक तथा भट्टनायक की समीक्षाएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं।

---

(1) श्रंङ्गार प्रकाश

(2) दशरूपक(अवलोक टीका) 4/44 की व्याख्या

(3) साहित्य दर्पण 3/45

मम्मट आदि ने भी अपने ग्रन्थों में इन सभी आचार्यों की व्याख्याओं की समीक्षा करके इनमें भट्टलोल्लट, शंङ्कुक और भट्टनायक की समीक्षाओं को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इन व्याख्याओं में अभिनव गुप्त के मत को सबसे अधिक युक्तिसंगत प्रतिपादित किया है।

रसगंङ्गाधर में पंण्डित राज जगन्नाथ ने रस सूत्र की आठ व्याख्याओं को प्रस्तुत किया था। भट्टलोल्लट, शंङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त ने रससूत्र की जो व्याख्याएॅ प्रस्तुत की थीं, रस के स्वरूप को निर्धारित करने में उनका अधिक महत्व है। इस कारण उनको संक्षेप से यहाॅ प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। भट्टलोल्लट, शंङ्कुक और भट्टनायक के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उनके मतों की समीक्षा के लिये उनके विरोधी आचार्यों में अभिनव गुप्त आदि के ग्रन्थों की शरण लेने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ये व्याख्याएॅ संक्षेप में निम्न प्रकार से हैं।

भट्टलोल्लट् का उत्पत्तिवाद– भट्टलोल्लट् का मत उत्पत्तिवाद कहलाता है। उन्होंने संयोग और निष्पत्ति पदों की व्याख्या इस प्रकार की है–

''संयोगात् = उत्पाध– उत्पादक सम्बन्धात्।। निष्पत्तिः = उत्पत्तिः''

पदों की व्याख्या संक्षिप्त रूप से इस प्रकार की गयी है।

ललना आदि आलम्बन विभाव है और उद्यान आदि उद्दीपन विभाव है। इन विभावों से राम आदि पात्रों में रति आदि भावों की उत्पत्ति अर्थात् उद्‌बोधन होता है। तदन्तर कटाक्ष भुजक्षेप आदि कार्यरूप अनुभावों से रामगत रति आदि स्थायी भाव प्रतीति के योग्य हो जाते हैं। उनकी लज्जा, चिन्ता आदि व्याभिचारी भावों से परिपुष्टि होती है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भाव नाटक या काव्य के पात्रों में ही रहते हैं। जब कोई अभिनेता राम आदि पात्रों का रूप धारण कर उनका अभिनय कर रहा होता है तो सामाजिक उसमें रामत्व का आरोप कर लेते हैं अर्थात् उसी को राम समझ लेते हैं। इस प्रकार वह राम आदिगत रति

सामाजिकों को अभिनेता में प्रतीत होती हुई उनके हृदयों में विशेष चमत्कार का आधान करती है और रस की पदवी को धारण करती है।

भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में उत्तरवर्ती आचार्यों के अनेक दोष प्रतीत हुए हैं। भट्टलोल्लट ने रस की स्थिति अनुकार्य में अर्थात् राम आदि पात्रों में माना है। अभिनेताओं में भी रस की स्थिति वास्तविक न होकर अनुकरण मात्र ही है। इस अवस्था में सामाजिकों के हृदयों में रस की अनुभूति किसी प्रकार नही हो सकेगी तथा वे रस का आस्वादन नहीं कर सकेंगे। यदि उनमें रस की स्थिति को मान भी लिया जाय तो भ्रान्तिमान होगा। अतः काव्यों के भ्रमोत्पादक होने से वे मान्य नहीं हो सकेंगे। भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में उक्त दोष का अनुभव करके रससूत्र के व्याख्याता अन्य आचार्यों ने रस सूत्र की व्याख्या अन्य प्रकार से की है।

यह जो भट्टलोल्लट आदि का मत दिखलाया गया है, इसमें स्थायीभाव के साथ विभावों का संयोग अर्थात् उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध, अनुभावों के साथ गम्य गमक भाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारी भावों के साथ पोष्य पोषक भाव सम्बन्ध संयोग से अभिप्रेत है।

दूसरी बात यह है कि इस मत में रस मुख्य रूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है और उनका अनुकर्ता होने के कारण गौण रूप से नट में भी रस की स्थिति मानी जाती है। परन्तु सामाजिक में रस की उत्पत्ति नहीं होती है।

वेदान्त में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी हैं। रज्जु में सर्प की आध्यात्सिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प प्रतीति और उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति होती है।

श्री शंङ्कुक का अनुमितिवाद– शंङ्कुक ने इस रस की अनुभूति को अनुमान का विषय प्रतिपादित किया। उनका मत अनुमिति वाद कहलाता है। श्री शंङ्कुक ने ''संयोगात्'' और ''अनुमिति'' पदों की व्याख्या की है। जो इस प्रकार है।

''संयोगात् = अनुमात्य– अनुमापक सम्बन्धात्।। निष्पत्तिः = अनुमितिः''

इसी कारण उनके मत को अनुमितिवाद कहा गया है। इस मत की व्याख्या शंङ्कुक ने इस प्रकार की है–

सामाजिक जब रंङ्गमंच में कुशल अभिनेता को अभिनय करते देखते हैं, तो वह राम समझ लेते हैं। इस प्रकार जो राम की प्रतीति है, वह एक विलक्षण ज्ञान है। यह ज्ञान चार प्रकार का है–

(1) सम्यक् (2) मिथ्या (3) संशय (4) सादृश्य

शंङ्कुक की व्याख्या को काव्यप्रकाशकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

सेयं ममाङ्गेषु सुधार सच्छटा सुपूर कर्पूर शलाकिका दृशोः।

मनोरथ श्री र्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता।।

मेरे अंङ्गों में सुधारस के समान (आनन्ददायिनी) ऑखों के लिए कर्पूर की शलाका के समान (शीतलदायक) और मन के लिये शरीर धारिणी मनोरथ श्री के समान यह प्राणेश्वरी मुझे अब दिखलायी दे रही है। यहॉ वक्ता राम है। राम का अभिनय करने वाले अभिनेता में राम की प्रतीति होना इन चारों ज्ञानों से विलक्षण है। क्योंकि सामाजिक का ज्ञान न तो सम्यक प्रतीति होता है, और न मिथ्या प्रतीति है, और न संशय प्रतीति है, और न ही सादृश्य की प्रतीति है। यह प्रतीति वस्तुतः ''चित्रतुरगप्रतीति'' है। यह चित्रतुरगन्याय से होती है। जिस प्रकार चित्र में घोड़े को देखकर उस चित्र को वस्तुतः घोड़ा न होने पर भी वह घोड़ा है। इस प्रकार की प्रतीति होती है। उसी प्रकार अभिनय में राम के उपस्थित न होने पर भी राम का अभिनय करने वाले अभिनेता सामाजिक को राम की प्रतीति होती है।

इस प्रकार जब सामाजिक अभिनेता को राम समझ लेता है तो शिक्षा और अभ्यास की कुशलता के कारण उसमें कृत्रिम विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों को वह कृत्रिम नहीं समझता और उसके द्वारा वह अभिनेता में रति आदि स्थायी भावों का अनुमान कर लेता है। कारण यह है कि रति आदि भावों की यह अनुमिति अन्य शास्त्रोक्त अनुमितियों से विलक्षण होती है। कारण

यह है कि सामान्य अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आश्रित है, जब कि यह अनुमिति परोक्षात्मक है। इस प्रकार रति आदि भावों के उन अभिनेताओं में न होने पर भी सामाजिक अपने हृदय में निहित वासना के द्वारा उन भावों का अभिनेताओं में अनुमान करते हुये रस का आस्वादन करता है।

काव्यप्रकाशकार ने शंङ्कुक ने नट में रस को अनुमेय माना है। अनुमान की सामग्री में नट में चित्रतुरग न्यायो राम बुद्धि का प्रतिपादन किया है। जैसे– घोड़े के चित्र को देखकर 'यह घोड़ा है' इस प्रकार का व्यवहार होता है। परन्तु इस प्रतीति को (1) न सत्य कहा जा सकता है, (2) न मिथ्या (3) न संशय रूप कहा जा सकता है और (4) सादृश्य माना जा सकता है। चित्रस्थ तुरग में होने वाली बुद्धि इन चारों प्रकार की बुद्धियों से भिन्न है। इसी प्रकार नट में जो राम बुद्धि होती है, वह सम्यक, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण है।

जिस प्रकार किसी स्थान पर धूम के न होने पर भी धुंध आदि को धूम समझ कर उसके द्वारा अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार नट आदि में वास्तविक रति आदि न होने पर भी उनके अभिनय कौशल से कृत्रिम विभावों का अनुमान सामाजिक कर लेता है। यह अनुमिति अपने सौंन्दर्य के बल से सामाजिकों द्वारा आस्वाद्यमान होकर चमत्कार को उत्पन्न करती हुई रस दशा को प्राप्त होती है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद– भट्टनायक का सिद्धान्त सांख्यदर्शन पर आधारित है, उनके अनुसार रस सूत्र के संयोग पद का अर्थ भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है, इस प्रकार उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग अर्थात् भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) होती है। अर्थात् सामाजिक के द्वारा रस का भोग (आस्वादन) किया जाता है।

भट्टनायक के अनुसार रस की न तो उत्पत्ति होती है, न प्रतीति होती है, और न अभिव्यक्ति होती है। अपितु विभावादि साधारणीकरण रूप भावात्मक व्यापार के द्वारा भावित होता हुआ सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद विश्रन्ति रूप भोजकत्व (भोग) व्यापार के द्वारा आस्वादित होता है।

" न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभित्यज्यते "

भट्टनायक का कहना है कि जो भट्टलोल्लट प्रभृति आचार्य मुख्य रूप से अनुकार्य (रामादि) में और गौण रूप से अनुकर्ता नट में रस की उत्पत्ति या प्रतीति मानते हैं, वह ठीक नहीं है। क्योंकि यदि परगत (अनुकार्य रामादि अथवा अनुकर्ता नट) में रस की उत्पत्ति या प्रतीति मानते हैं, तो सामाजिक में रस की उत्पत्ति या प्रतीति कैसे होगी? अतः रस की उत्पत्ति या प्रतीति न अनुकार्य रामादि में और न अनुकर्ता नट में होती है, क्योंकि दोनों ही तटस्थ हैं, उदासीन हैं।

भट्टनायक के अनुसार न परगत (अनुकर्ता नट तथा अनुकार्य रामादि में) रस की प्रतीति होती है और न आत्मगत रस की अनुभूति होती है, क्योंकि यदि स्वगत (सहृदय सामाजिक) में रस की अनुभूति मानते हैं तो करुण रस में सामाजिक को दुःख की अनुभूति होने लगेगी ऐसी तन्मयता के अभाव में सामाजिक को रसानुभूति नहीं होगी, क्योकि अभिव्यक्ति सदैव विद्यमान वस्तु की होती है और वस्तु की सत्ता अभिव्यक्ति के पूर्व भी रहती है और बाद में भी, किन्तु रस के अनुभूति स्वरूप होने से अनुभूति काल में उसकी सत्ता रहती है।

इस प्रकार भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद तीनों मतों का खण्डन करके भुक्तिवाद की स्थापना की है।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद की सिद्धि के लिए अभिधाशक्ति के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की परिकल्पना की है। इसमें अभिधा के द्वारा पहले काव्य का अर्थ मात्र समझा जाता है, और भावकत्व व्यापार उस अभिधा जन्य अर्थ को परिष्कृत कर व्यक्ति विशेष से उसका सम्बन्ध हटाकर साधरणीकृत कर देता है। इस भावकत्व व्यापार के द्वारा साधरणीकृत

विभादि व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से उन्मुक्त हो जाता है और सामाजिक से उसके सम्बन्ध हो जाते हैं, तब उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जाती। इस प्रकार विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर रत्यादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है।

काव्य के द्वारा रसों की भावना की जाती है, उसमें यदि विभावादि से उत्पन्न आस्वाद रूप प्रतीति को विषय बनाना भावना है, तो वह हमें स्वीकार है, किन्तु इससे भावकत्व व्यापार की सिद्धि नहीं होती।

यहाँ व्यज्यमान रूप से व्यंग्य लक्षित होता है और अनुभव विषय व्यंज्जना रूप है? अतः व्यंज्जना के अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है? वह तो व्यंज्जना का नामान्तर प्रतीत होता है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद– अभिनवगुप्त, अभिव्यक्तिवादी हैं, उनके मतानुसार भरत के रस सूत्र के संयोग पद का अर्थ व्यंङ्ग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध और निष्पत्ति पद का अर्थ अभिव्यक्ति है। इस प्रकार उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के साथ व्यंङ्ग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध से रस की अभिव्यक्ति होती है।

मम्मट ने भी काव्य प्रकाश में अभिनवगुप्त का मत उद्धत किया है, उनके काव्यप्रकाश के अनुसार लोक में प्रमदा आदि के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव के अनुमान करने में निपुण सामाजिकों को काव्य और नाट्य में कारणत्व आदि के परिहार से विभावन व्यापार से युक्त होने से अलौकिक विभावादि शब्दों से व्यवह्रत किए जाने वाले ये मेरे ही हैं, ये शत्रु के नहीं हैं, ये तटस्थ के हैं, ये मेरे नहीं हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार करने अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले (यज्ञमान) से अभिव्यक्ति समाधिकों में वासना रूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव नियत प्रमाता के रूप में स्थित होने पर भी साधारण उपायों के बल से उसी समय परिमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य अपरिमित प्रमातृभाव के

उदय होने से प्रमाता के द्वारा समस्त सहृदयों में समान अनुभव से युक्त सामान्य रूप से अपने आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ आस्वाद मात्र स्वरूप वाला विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला वानक रस के समान आस्वाद्यमान सामने परिस्फुरित होता हुआ सा हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा समस्त अंङ्गों को स्पर्श करता हुआ सा अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ सा ब्रह्मनन्द का अनुभव कराता हुआ सा अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाला श्रंङ्गार आदि रस कहा जाता है।[1]

अग्निपुराण का अभिमान या अहंङ्कार उत्तेजना जन्य, मिथ्यागर्व, नहीं है। अपितु आत्मनिष्ठ विशेष गुण हैं। जो रस्यमान होने से रस कहलाते हैं।

---

(1) डा0 पारसनाथ द्विवेदी कृत काव्यप्रकाश की टीका पृ0 142—143

रस की अलौकिकता— अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक कहा है। क्योंकि वह लौकिक परिस्थितियों से बद्धनहीं होता। लोक में दो प्रकार के कारण होते हैं— कारक और ज्ञापक। तथा उनके कार्य भी दो होते हैं— कार्य और ज्ञाप्य। अभिनवगुप्त का कथन है कि रस न कार्य होता है ओर न ज्ञाप्य बल्कि दोनों से विलक्षण अलौकिक है। क्योंकि रस को यदि हम कार्य मानते हैं। तो उसका कोई न कोई कारण होना चाहिए जैसे— घट का कारण कुलालादि है किन्तु घट के कारण कुलालादि के नष्ट हो जाने पर भी घट विद्यमान रहता है। किन्तु यदि हम विभावादि को रस का कारण मानते हैं तो कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर इसका अस्तित्व होना चाहिए किन्तु विभावादि रूप कारण के नष्ट हो जाने पर रस रूप कार्य नहीं रहता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार रस अलौकिक स्वसंवेदन का विषय है और संवेदन ज्ञान रूप है। ज्ञान के दो प्रकार हैं— र्निविकल्प और सविकल्प। जब केवल वस्तु मात्र का ज्ञान होता है तो उसे र्निविकल्प ज्ञान कहते हैं और जब वस्तु के नाम, जाति, रूप आदि का ज्ञान होता है तो उसे सविकल्प ज्ञान कहते हैं।

रस संख्या— भरत एवं धनंजय ने नाट्य में रसों की संख्या आठ बतायी है। मम्मट ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

''अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः''

अभिनवगुप्त का कथन है कि नाट्य में शान्त नामक नवॉ रस भी होता है। नाट्यशास्त्र के संस्करण में—

''एवमेते रसाज्ञेया नवलक्षण लक्षिताः'' पाठ में मिलता है। इस पर अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती टीका में लिखा है कि **''एवमेते रसाज्ञेया नव''** इस आधार पर नाट्य में नौ रस माने गए हैं। इस मूल पाठ के अनुसार इसका अर्थ होता है— इस प्रकार आठ रस समझने चाहिए। भरत ने ब्रह्मा के मत से रसों की संख्या आठ बतायी है।

भारतीय नाट्यशास्त्र परम्परा में जहॉ एक ओर रसों की अनन्तता का प्रतिपादन हो रहा है, वहीं दूसरी ओर एक मूल रस मानने की परम्परा भी विद्यमान है। इस परम्परा के आचार्य एक मूल रस स्वीकार करते थे।

अग्निपुराणकार का कहना है कि वास्तव में रस एक होता है और वह अखण्ड, चैतन्य और अनिर्वचनीय होता है। अग्निपुराण के अनुसार– परब्रह्म के सहज आनन्द की अभिव्यक्ति को चैतन्य चमत्कार और रस नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार चैतन्य ही रस है और भावों के आधार पर विविध रूपों में अवभासित होता है।

भोज ने अग्निपुराण के अनुसार परम्परा का अनुसरण करके श्रंङ्गार को ही एक मात्र रस माना है।

श्रंङ्गारमेव रसनाद्र समामनामः।।[1]

उनका कहना है कि रस मूलतः एक ही है और वह श्रंङ्गार है और अहंङ्कार आत्मा का विशेष गुण है। वही अभिमान है, वही श्रंङ्गार है और श्रंङ्गार ही रस है।

रसोऽभिमानोऽहंङ्कारः श्रंङ्गार इति गीयते।।[2]

---

(1) श्रंङ्गार प्रकाश 1.6–7

(2) सरस्वतीकण्ठाभरण 5/1

श्रंङ्गार के भेद— नाट्यशास्त्र में भरत ने श्रंङ्गार की दो अवस्थायें बतायी हैं। संयोग और विप्रलम्भ । अग्निपुराण में इनके दो भेद किए गए हैं— प्रच्छन्न और प्रकाश। इनमें विप्रलम्भ श्रंङ्गार के चार भेद किए गए हैं—

(1) पूर्वानुराग (2) मान (3) प्रवास (4) करुण

मम्मट ने विप्रलम्भ श्रंङ्गार के पॉच भेद बताए हैं—

(1) अभिलाष (2) ईर्ष्या (3) विरह (4) प्रवास (5) शप

मम्मट ने पूर्वानुराग को अभिलाष के नाम से अभिहित किया है। विश्वनाथ ने पूर्वानुराग के तीन भेद किए हैं—

(1) नीलीराग (2) कुसुम्भीराग (3) मंजिष्ठराग

मान कोप को कहते हैं, जो सम्भुक्ता के प्रेम से उत्पन्न होता है।

श्रंङ्गार रस (स्थायी भाव— रति) —

''स्त्रीपुंसयोरास्थाबन्धपरवर्यायोऽन्योन्यमभिष्वङ्गोरतिः''

श्रंङ्गार रस की उत्पत्ति काम के उद्‌भेद से होती है। इसमें नायक नायिका आदि आलम्बन, विभाव चन्द्रमा, उपवन, माला, बसन्त ऋतु आदि उद्दीपन विभाव, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव स्वेद रोमांच आदि सात्विक अनुभाव तथा लज्जा औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे अभिव्यक्ति रति रूप स्थायी भाव ही श्रंङ्गार रस है। रति के विकास की छः अवस्थाएँ होती हैं— प्रेममान, प्रणय, स्नेह और अनुराग।

श्रंङ्गार रस के मुख्य दो भेद होते हैं— संयोग और विप्रलम्भ। संयोग श्रंङ्गार के दर्शन, स्पर्श, चुंबन, परिरम्भण आदि के भेद से अनेक विभेद हो सकते हैं। इसलिये इसको एक ही प्रकार का मान लिया गया है। विप्रलम्भ श्रंङ्गार में पॉच भेद होते हैं— अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और मान। विप्रलम्भ श्रंङ्गार की दस काम अवस्थाएँ हैं। अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणगान, उद्वेग, प्रलाप, संज्वर, जडता और मरण।

अग्निपुराण में रस आदि का प्रकरण इस प्रकार र्निदिष्ट किया गया है।

रसादिविनियोगोऽध कथ्यते ह्यतिमानतः।
तमन्तरेण सर्वेषामपाधैव स्वतन्त्रता।।
सम्भोगो विप्रलम्भष्च ऋङ्गारो द्विविधः स्मृतः।
प्रच्छन्नष्च प्रकाषष्च तावपि द्विविधौ पुनः।।
विप्रलम्भाभिधानो यः श्रंङ्गारः स चतुविधः।
पुर्वानुरागमानाख्यः प्रवासकरुणात्मकः।।[1]

इसका सम्बन्ध स्त्री पुरुष से है। इसका निर्वाह रति स्थायी भाव के द्वारा होता है। इस रस में समस्त सात्विकों का समावेश रहता है और वैवर्ण्य तथा प्रलय का अभाव रहता है। धर्मार्थ, काम, मोक्ष, तथा आलम्बनादि के द्वारा श्रंङ्गार निरन्तर बढता रहता है।

स्त्रीपुंसयोस्तद्वदयं तस्य निर्वतिका रतिः।
निखिलाः सात्विकास्तत्र वैवर्ण्यप्रलयौविना।।
धर्मार्थकाम मोक्षैष्च श्रंङ्गार उपचीयते।
आलम्बनविषेषैष्च तद्धिषेषैनिरन्तरः।।[2]

हास करुण आदि के लक्षण और भेद–

हास रस– हास्य का स्थायी भाव हास है जो अपनी अथवा दूसरे की वेशभूषा, आकृति, वाणी से उत्पन्न होता है। उस हास्य रस को हास स्थायी भावात्मक कहा है।

''रज्जनोन्मादनु विद्धष्चित्तस्य विकासो हासः।''

---

(1) अग्निपुराण 342/3–5
(2) अग्निपुराण 342/7–8

हास्य रस वह है जिसे हास स्थायी भाव का अभिव्यंजन कहा जाया करता है। इसका आर्विभाव आकार, विकृति, वाग्विकृति, वेषविकृति, चेष्टाविकृति अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के वर्णन अथवा अभिनय से हुआ करता है। इसका वर्ण श्वेत है और इसके अधिष्ठात्देव प्रमथगण है। इसका आलम्बन वह व्यक्ति है जिसमें आकार वाणी और चेष्टा की विकृतियॉ दिखायी दिया करती हैं और जिसे देखकर लोग हॅसा करते हैं। ऐसे हास्यास्पद व्यक्ति की जो चेष्टायें हैं वे ही यहॉ उद्दीपन का काम किया करतीं हैं। इसके अनुभाव वर्ग में नेत्र निमीलन, मुख विकास आदि की गणना है। इसमें जो व्यभिचारी भाव हैं, वे हैं– निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि इसके साहित्य दर्पण में छः भेद बताए हैं और अग्निपुराण में हास के चार भेद माने गए हैं जो इस प्रकार हैं–

श्रंङ्गार द्विविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम्।
ळासष्चतुर्विधयोऽलक्ष्यदन्तः स्मित इतीरितः।।
कि चिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितं फुल्ललोचनम्।
विहसितं सस्वनं स्याज्जिह्योपहसितं तु तत्।।[1]

साहित्यदर्पणकार ने इनके छः भेद किये है–

(1) उत्तमप्रकृतिगत स्मित हास्य (2) उत्तमप्रकृतिगत हसित
(3) मध्यमप्रकृतिगत विहसति (4) मध्यमप्रकृतिगत अविहसित
(5) अधमप्रकृतिगत अपहसित हास्य (6) अधमप्रकृतिगत अविहसित हास्य

यहॉ पर स्मित का अभिप्राय नेत्रों के ईषद् विकास किवां अधर स्पन्दन (ओठों के) कुछ– कुछ फड़क उठने का है। उसे हसित कहते हैं।

ऐसे हास को जिसमें दॉत कुछ दिखायी पड़ जाय उसे विहसित कहा गया है।

---

(1) अग्निपुराण 342/9–10

ऐसा हास जिसमें साथ ही साथ मधुर शब्द निकल पडे, वह अवहसित हास है।

जिसमें कन्धे और सिर भी कॉपने लगें वी अपहसित का अभिप्राय है। ऐसी हॅसी जिसमें ऑखों से ऑसू तक आ जाय, जिसमें पैर भी उठाये पटके जाया करते हैं वह अतिहसित हास है।

हास्य रस का उदाहरण–'' हट जाओ देखो श्री कुक्कुट मिश्र जी पधार रहे हैं। आप ही वे महामहोपाध्याय हैं जो पॉच दिन में ही प्रभाकर– मीमांसा की चटनी कर गये, तीन दिन बीतते बीतते वेदान्त दर्शनों को पी गए और तर्क शास्त्रों को सॅूघ लेना तो आपके बॉये हॉथ का खेल ही ठहरा।''

हास्य रस का पूर्ण परिपोष लटकमेंखल सरीखे प्रहसनों में देखा जा सकता है।

करुण रस– अग्निपुराणकार ने करुण रस के तीन भेद किये हैं। धर्म हानि द्वारा उद्भूत शोक, चित्तग्लानिजन्य शोक तथा वियोग से उत्पन्न शोक, इनका स्थायी भाव पूर्वज अर्थात् प्रथम का धर्म, द्वितीय का विलास, तृतीय का शोक है।

सषब्दं पापहसितम शब्दमतिहासितम्।
यष्चासौ करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत्।।
धर्मोपघातषिक्तविलासजनितस्तथा।
शोकः शोकाद्भवेत्स्थायी कः स्थायी पूर्वजो मतः।।[1]

साहित्यदर्पण में इसका विवरण इस प्रकार है–

करुण के अधिदैवत के रूप में यम की मान्यता का कारण यह है–

करुणस्याप्यधिष्ठानं दयेति परिभाष्यते।
पापं तया यमयति यमतः सोऽस्याधिदैवतम्।।[2]

---

(1) अग्निपुराण 342/11–12

(2) साहित्यदर्पण

इष्ट का विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति करुण रस के आलम्बन विभाव हैं। प्रिय के गुणों का कथन उद्दीपन विभाव है। निःश्वास, उच्छवास्, रुदन, स्तम्भन, विलाप, विवर्णता आदि अनुभाव हैं। स्वप्न, अपस्मार, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं इसमें निष्पन्न शोक रूप स्थायी भाव करुण रस रूप दशा को प्राप्त होता है। करुण रस ही एक मात्र रस है और अन्य रस इसी के विवर्त हैं। यह करुणरसवाद् महाकवि भवभूति का रसवाद है जैसा कि निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है–

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।।
आर्वत बुद्तरंङ्गमयान् बिकारा।
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम्।।

रौद्र रस– रौद्र रस वह रस है। जिसका स्थायी भाव क्रोध हुआ करता है। इसका वर्ण रक्त है और इसके देवता रुद्र हैं। इसमें आलम्बन रू॰ से शत्रु का वर्णन किया जाया करता है और शत्रु की चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव का काम करती हैं। इसकी विशेष उद्दीप्ति मुष्टि प्रहार, भूपातन, भयंकर, काटमार, शरीर–विदारण, संग्राम और संभ्रम आदि से हुआ करती हैं। इसके अनुभाव हैं– भ्रूभङ्ग, ओष्ठनिदर्शन, वाहुस्फोटन, तर्जन स्वकृत (ताल ठोकना), वीर कर्मवर्णन, शस्त्रोत्क्षेपण, उग्रता, आवेग, रोमांच, स्वेद, कम्प, मद, आक्षेप, क्रूरदृष्टि आदि इसके जो व्यभिचारी हैं। उनमें मोह अमर्ष आदि का स्थान है।

रौद्र के स्थायी भाव क्रोधका सह स्वरूप विवेक है–

तेजसो जनकः क्रोधः समिधा कथ्यते वुधैः।
क्रोधः को पश्र रोषश्रेत्येष भेदस्त्रिधा मतः।।
कुत् क्रौर्य तेन सर्वत्र धक्ष्यतीत्यस्य निर्वहः।
क्रोध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते।।[1]

(1) भावप्रकाशनः 2य अधिकार

रौद्र रस के अभिमानी देव रुद्र हैं जैसा कि कहा भी गया है–

रौद्रस्य यदधिष्ठानं कर्म रोगरुजात्मकम्।

रुद्रस्य च तदस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम्।।

वीर रस– वीर रस के आलम्बन विभाव विजेतत्य शत्रु आदि हैं। उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन मति, गर्व, स्मृति, तर्क आदि व्यभिचारी भाव है। इनसे निष्पन्न उत्साह,रूप स्थायी भाव वीर दशा को प्राप्त होता है। यह चार प्रकार का होता है– दानवीर, धर्मवीर, दयावीर और युद्धवीर। अग्निपुराण में इसके तीन प्रकार के भेद बताए गए हैं जो इस प्रकार हैं–

दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो इति त्रयम्।

वीरस्तस्य च निष्पत्ति र्हेतुरुत्साह इष्यते।।[1]

भयानक रस– अग्निपुराणकार ने भयानक रस का स्थायी भाव भय है। यह रस वीर रस की पूर्वावस्था है। अर्थात् भय उपरान्त ही वीर रस की स्थिति सम्भव होती है।

आरम्भेषु भवेद्यत्र वीरमेवानुवर्तते।

भयानको नाम रसस्तस्य निवर्तकं भयम्।।[2]

भय स्थायी भाव वाला भयानक रस होता है। विकृत शब्द पिशाचादि के दर्शन, युद्ध, जंङ्गल, शून्यग्रह और गुरु एवं राजा के अपराध से भयानक रस उत्पन्न होता है। भयानक रस के तीन भेद हैं– कृत्रिम, अपराधजन्य और वित्रासिक। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्य क्रियात्मक।

---

(1) अग्निपुराण 342/14

(2) अग्निपुराण 342/15

वीभत्स रस– वीभत्स रस के दो भेद हैं– उद्वेजन और क्षोभन। उद्वेजन का प्रदर्शन उछल कूद द्वारा तथा क्षोभन का प्रदर्शन रुधिर पातादि के द्वारा किया जाता है। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है तथा इसमें सात्विक अंश नहीं रहने पाता।

उद्वेजनः क्षोभन(ण) श्च वीभत्सो द्विविधः स्मृतः।
उद्वेजनः स्यात्प्लुत्याद्यै क्षोभनो(णो) रुधिरादिभिः।।[1]

कुछ आचार्य वीभत्स रस के तीन भेद बताते हैं– कायिक, वाचिक और मानसिक।

आचार्य भरत 'शुद्ध' नामक एक तीसरा भेद मानते हैं किन्तु अग्निपुराणकार शुद्ध नामक भेद नहीं स्वीकार करते हैं। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्य क्रियात्मक।

अद्भुत रस– अलौकिक पदार्थ देवता आदि अद्भुत रस के आलम्बन विभाव हैं। उनका दर्शन गुण कीर्तन आदि उद्दीपन विभाव हैं। साधुवाद कहना, अश्रु, वेपथु, स्वेद, नेत्रविकास, वाणी का गद्गद् होना आदि अनुभाव हैं। विर्तन आवेग, हर्ष धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। इससे निष्पन्न विस्मय नामक स्थायी भाव अद्भुत रूप रस दशा को प्राप्त होता है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोच्य ग्रन्थ अग्निपुराण में उल्लिखित नाटक के भेद, नाट्य लक्षण, नटी विदूषक आदि के कथन स्त्रियों के लीला विलास आदि नवधा कर्मादि का निरूपण रस आदि के विनियोग रस सम्बन्धी अन्य विद्वानों के मतों का वर्णन और श्रंङ्गारादि आठ रसों के लक्षण एवं उनके भेदों का वर्णन बडे ही उत्कर्ष रूप में किया गया है।

---

(1) अग्निपुराण

अध्याय

तृतीय

(अलङ्कार)

अलंङ्कार

''तद्दोषों शब्दार्थो सगुणावन लंङ्कृती पुनः क्वापि'' इस काव्य लक्षण में शब्दार्थों का अन्तिम विशेषण 'अनलंङ्कृती' दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है। कि साधारणतः अलंङ्कार शब्दार्थ काव्य में प्रयुक्त होने चाहिए। परन्तु जहॉ रसादि की स्पष्ट प्रतीति हो। वहॉ कभी–कभी अलंङ्कार रहित शब्द और अर्थ के होने पर भी कारण काव्य की हानि नहीं होती। इस लक्षण में अलंङ्कार का सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ दोनों के साथ दिखलाया गया है।

'अलंङ्करोति इति अलंङ्कारः' यह अलंङ्कार शब्द की व्यत्पुत्ति हैं। अनुसार शरीर विभूषित करने वाले अर्थ या तत्व का नाम अलंङ्कार हैं जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं। इस लिए इनको अलंङ्कार कहते है। काव्य में अनुप्रास, उपमा आदि काव्य शरीर भूत शब्द और अर्थ को अलंङ्कृत करते हैं। सभी आचार्यों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है। अलंङ्कार शरीर के शोभाधायक होते हैं। इसलिये अलंङ्कार के आधार शब्द और अर्थ हैं।

काव्यगत अलंङ्कारों का प्रयोग मानव जाति के लिए प्रथम साहित्य 'ऋग्वेद' में हुआ। ऋग्वेद में ''अलम्'' पद के लिए ''अरम्'' रूप मिलता है। परन्तु श्रृग्वेद में ''अरंङकृत'' के सौन्दर्यवाची अर्थ का प्रयोग कव्यशास्त्र के युग में प्रसिद्ध हुआ है। परन्तु अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति आदि अलंङ्कारों के प्रयोग मंत्रों में हुए है। सबसे प्रथम अलंङ्कारों का शास्त्रीय विवेचन सूक्ष्म रूप में भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। आचार्य भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंङ्कारों का विवेचन किया है। भरत के पश्चात् अलंङ्कारों का उत्तरोत्तर विकास हुआ तथा भरत के ये चार अलंङ्कार अप्पय दीक्षित के समय तक एक सौ पच्चीस हो गए। आचार्य भामह ने भी अलंङ्कारों के स्वरूप का विवेचन किया है। अलंङ्कारों को काव्य के आत्मतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

अलंङ्कार काव्य का सबसे प्रमुख सौन्दर्याधायक तत्व है। ''जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुए भी आभूषण के बिना शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार अलंङ्कारों के बिना काव्य की शोभा नही होती। ''

दण्डी का काव्य लक्षण

अग्निपुराण में अलंङ्कार के लक्षण का दण्डी ने अनुसरण किया है। उसमें अर्थालंङ्कार से रहित कविता को विधवा सरस्वती के समान बताया है।

भामह के बाद काव्यादर्श के निर्माता ''दण्डी'' को माना जाता है। दण्डी ने पूर्व आचार्यों का उल्लेख करते हुये लिखा है–

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्
तै शरीरं काव्यनामलंङ्काराष्चः दर्षिताः।।

अर्थात् प्रजाजनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानों ने विचित्र मार्गो से युक्त काव्यवाणी के रचना के प्रकारों का वर्णन किया हैं जिसमें उन्होने काव्य के शरीर तथा उसके अलंङ्कारों का वर्णन किया है।

यहॉ तक डेढ़ कारिका में दण्डी ने पूर्व आचार्यो के मत की चर्चा की है। उनका संङ्केत यहॉ मुख्य रूप से भामह की ओर ही है। 'भामह के '**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**' इस लक्षण में काव्य के शब्द ओर अर्धमय शरीर का निर्देश हैं। और आगे उनके अलंङ्कारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार ''**तैः शरीरं काव्यनामलंङ्कारश्च दर्शिताः**''। यह पंक्ति स्पष्ट रूप से भामह की ओर संङ्केत कर रही है। भामह के इस लक्षण में आये हुए 'सहितौ' पद की कोई व्याख्या नहीं की हैं। इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न दण्डी ने किया है–

''शरीरं तावदिष्टार्थ अवच्छिना पदावली।।''

यह दण्डी का काव्य लक्षण है।

इष्ट अर्थात् मनोरम ह्रदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली शब्द समूह अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य का शरीर हैं। इस प्रकार भामह और दण्डी दोनों ने काव्य के शरीर तथा अलंङ्कारों की चिन्तन किया है।

दण्डी के बाद वामन का लक्षण सामने आता है। वामन ने भामह और दण्डी के उक्त काव्य शरीर में प्राण प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बताया उनके अनुसार काव्यात्मक सौन्दर्य ही अलंङ्कार हैं।

उद्भट्ट ने भी काव्य में अलंङ्कारों की प्रधानता को माना है। आचार्य रुद्रट ने भी काव्य में अलंङ्कारों की प्रधानता करते हुये उन्होने अलंङ्कार सहित उक्ति को ही काव्य माना है। आचार्य भोजराज ने काव्य के शोभा करत्व धर्म को अलंङ्कार के अस्तित्व को स्वीकार किया है। रसों के शोभाकर होने के कारण भोज ने इनको भी अलंङ्कार बताया हैं।

(1) सबसे प्राचीन आचार्य भरत ने चार अलंङ्कार बताये है।

(2) आचार्य भामह ने अपने काव्यालंङ्कारों में 38 अलंङ्कारों का विवेचन किया है।

(3) दण्डी ने 37 अलंङ्कारों का वर्णन किया हैं। (क्योंकि वह मानते है कि काव्य के सभी शोभाकर धर्म अलंङ्कार ही है।)

(4) आचार्य भामह ने 38 अलंङ्कारों में दो शब्दालंङ्कार और 36 अर्थालंङ्कार माने हैं।

(5) दण्डी ने 37 अलंङ्कारों का स्वरूप वर्णित किया है। जिसमें दो शब्दालंङ्कार तथा 35 अर्थालंङ्कार माने हैं।

(6) उद्भट्ट ने अलंङ्कारों की संख्या 41 स्वीकार किया है जिसमें 4 शब्दालंङ्कार और 37 अर्थालंङ्कार माने हैं।

(7) वामन ने 31 अलंङ्कारों को स्वीकार किया है। जिसमें दो जिसमें दो शब्दालंङ्कार तथा 29 अर्थालंङ्कार माने हैं।

(8) रुद्रट ने 4 वर्गों में विभक्त किया है शब्दालंङ्कार अर्थालंङ्कार उन्होंने 62 अलंङ्कार को वर्णित किया है।

(9) भोजराज ने अलंङ्कारों को 3 वर्गों में विभाजित किया हैं शब्दालंङ्कार अर्थालंङ्कार और उभयालंङ्कार उन्होने प्रत्येक वर्ग में 24 अलंङ्कारों की गणना की है। और इस प्रकार से उन्होने 72 अलंङ्कार माने हैं।

(10) आचार्य मम्मट ने 68 अलंङ्कारों की विवेचना की है। जिसमें से 6 शब्दालंङ्कार और 62 अर्थालंङ्कार हैं।

(11) रुय्यक ने अपने वर्गीकरण में 78 अलंङ्कारों की गणना की है।

(12) आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में 83 अलंङ्कारों का विवेचन किया है। विश्वनाथ ने सात शब्दालंङ्कार और 75 अर्थालंङ्कार माने हैं।

(13) उत्तरवर्ती आचार्यों में अप्पय दीक्षित का नाम प्रमुख है। इन्होने 12 अलंङ्कारों का विवेचन किया है।

(14) पण्डित जगन्नाथ ने 70 का अलंङ्कारों वर्णन किया है।

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में 83 अलंङ्कारों का विवेचन किया है। विश्वनाथ ने सात शब्दालंङ्कार और 75 अर्थालंङ्कार माने हैं।

पणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' के अध्ययन से पता चलता है। कि उनके समय में अलंङ्कारों का शास्त्रीय विवेचन हो चुका था। उन्होने उपमा सादृश्य, उपमान सामान्य सदृश, प्रतिरूप उपमित आदि शब्दों के प्रयोग अपने सूत्रों में किए हैं। उन्होने उपमा आदि के सम्बन्ध में प्रत्ययों का विधान भी किया है।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, निरुक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों में अलंङ्कारों को विवेचन होने पर भी उस युग के किसी ऐसे अलंङ्कार ग्रन्थ की उपलिब्ध नहीं मिलती जिसमें अलंङ्कारों की शास्त्रीय विवेचना की गई हो।

काव्य की उपादेयता को सौन्दर्य रूप अलंङ्कार के कारण ही स्वीकार किया गया है। काव्यात्मक सौन्दर्य ही अलंङ्कार है। उद्भट्ट काव्य की शोभा, रस गण आदि को रसवत् प्रेय, उर्जास्वि और समाहित अलंङ्कारों में समाविष्ट

कर लिया है। इस प्रकार उत्तरवर्ती ध्वनिवादियों के रस वस्तु एवं अलंङ्कार इन त्रिविध अर्थों को उद्‌भट्ट ने अलंङ्कार का अंङ्ग सिद्ध कर दिया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रर्वतक आचार्य कुन्तक ने भी अलंङ्कारों की परिभाषा करते हुये उन्होने अलंङ्कार सहित उक्ति को ही काव्य माना है। ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों में से काव्य में अलंङ्कारत्व के प्राधान्य पर प्रथम और प्रबल प्रहार आनन्दवर्द्धन ने किया उन्होंने कहा कि काव्य में अलंङ्कारों का नियोजन रस आदि कें अंङ्ग के रूप में होना चाहिए।

अग्निपुराणकार ने अग्निपुराण में अलंङ्कारों का निरूपण इस प्रकार किया है–

काव्य की शोभा बहाने वाले धर्मों को अलंङ्कार कहा है।

''काव्य शोभा करान्धर्मानलंङ्कारान्प्रचक्षते।।''[1]

अलंङ्कार तीन प्रकार के माने हैं। शब्दालंङ्कार, अर्थालंङ्कार और शब्दार्थालंङ्कार, जो अलंङ्कार आदि अग्निपुराण में बताये गए है।

शब्दों की विशिष्ट संयोजन शैली द्वारा शब्दों को अलंङ्कृत करते है। उन्हें काव्य शास्त्र के ज्ञाता शब्दालंङ्कार कहते हें। गुम्फन, वाकोवाक्य अनुप्रास चित्र दुष्कर इत्यादि।

अलंङ्का (क) रिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौत्रिधा।
ये व्युत्पत्यांदिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।।
शब्दालंङ्कार माहुस्तान्काव्य मीमांसकोविदः।
छाया मुद्रा तथोक्तिष्च मुक्तिगुम्फ नया सह।।
वाको वाक्यमनुप्रासष्चित्रं दुष्करमेव च ।
ज्ञेया नवालंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात्।।[2]

---

(1) अग्निपुराण 342 / 17

(2) अग्निपुराण 342 / 18

अग्निपुराण 342 / 19–20

शब्दालंङ्कार

अनुप्रास आदि अलंङ्कारों का कथन– अग्निपुराण में शब्दालंङ्कारों का वर्णन अग्निदेव ने इस प्रकार किया है– ''पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है। इनके दो भेद हैं– एकवर्णगतावृत्ति तथा अनेक वर्णगतावृत्ति। एकवर्णगतावृत्ति के अग्निपुराण में पॉच भेद किये गये हैं।

(1) मधुरा (2) ललिता (3) प्रौढ़ा (4) भद्रा (5) परुषा

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्योः।
एकवर्णोऽनेकवर्णो वृत्तेर्वर्णगणो द्विधाः।।
एकवर्णगता वृत्तेर्जायन्ते प्च वृत्तयः।
मधुरा ललिता प्रौढ़ा भद्रा परुषया सह।।[1]

मथुरावृत्ति में वर्गो के अन्तिम (ङ) वर्णों से पूर्ववर्ती दो कोमल स्वरों (वर्णों) अर्थात् वर्गों के (ग,घ) तीसरे और चौथे वर्णों की आवृत्ति होती है। ये वर्ण ह्रस्व (अ) से प्रथग्भूत हो अर्थात् संयुक्त होने चाहिये। और यदि संयुक्त भी हो तो केवल नकार के (अ,इ,उ,ऋ) ह्रस्वोदान्तानुनासिकः साथ हो।

यहॉ वर्ग्य वर्णों की आवृत्ति पॉच बार से अधिक न हो इसमें महाप्राण (ख, घ, श, छ, झ) उष्मवर्णों का संयोग न हो और लघु अक्षर उत्तर में हो।

ललितावृत्ति में अधिक बल वाले कठोर शब्दों प्रौढ़ा में "प" तथा (प, फ, ब, भ, म) "ण" वर्ग के शब्दों का प्रयोग होता है। यहॉ 'ट' वर्ग (ट, ठ, ड, ण) और वर्गो के पंचमाक्षर उर्ध्व रेफ से संयुक्त नहीं होते हैं।

परुषावृत्ति उसे कहते है, जिसमें स्वरसम्बन्धी अक्षरों (श, ष, ह) के साथ उष्मा वर्णों का संयोग रहता है। इसमें अकार को (क, ख, ग, घ, ङ) छोडकर शेष स्वरों की आवृत्ति प्रचुर मात्रा में होती है।

---

(1) अग्निपुराण 343/1–2
अग्निपुराण 343/3–5

अनुस्वार तथा विसर्गः के द्वारा इसमें निरन्तर कठोरता लायी जाती है। इसमें रेफ तथा अकार से संयुक्त (ष, श, स) का प्रयोग होता है। अन्तस्थवर्णों (य, व, र, ल) में संयुक्त रकार और हकार परुषता लाने में समर्थ होता है। इनके अतिरिक्त गुरूवर्ण (आ, ऊ, ऐ, औ) तथा संयुक्त अक्षर परिपन्थि अर्थात् परुषता के उपयुक्त है। वर्गों के आदिम वर्ण (जैसे–क, ख, ग,घ) परुषता लाने में समर्थ होता है पर पंचम वर्ण (ङ) नहीं। निन्दा में तथा शब्दानुवृत्ति में परुषावृत्ति का प्रयोग होता हैं। कर्णाटी, कौन्तली, कौन्ती, कौङ्कणी, वामनासिका, द्रावणी और माधवी नामक परूषा वृत्तियों में क्रमशः 'क' वर्ग आदि पंचवर्गो अन्तस्थ वर्णों तथा ऊष्म वर्णों की आवृत्ति अधिकतया हुई है।

मधुरायाच् वर्गान्तादघो वर्ग्यारुणौ स्वनौ।
हस्वस्वरेणान्त रितौ संयुक्तत्वं नकारयोंः।।
न कार्या वर्ग्यवर्णानाभावृत्तिः पंच्माधिका।
महाप्राणोष्मसंयोग प्रविमुक्त लघुन्तरौ।।
ललिता बलभूयिष्ठा प्रौढ़ा या पर्णवर्गजा।
उर्ध्वरेफेण युज्यन्ते नटवर्गो न पच्मा।।[1]

उपर्युक्त परिशिष्ट में जो भी कहा जाता है। उसी को भद्रावृत्ति कहते है। परुषा वृत्ति उसे कहते है, जिसमें स्वर सम्बन्धी अक्षरों के साथ ऊष्मा वर्ण आवृत्तिप्रचुर मात्रा में होती है। अनुस्वार तथा विसर्ग के द्वारा निरन्तर पारुष्य लाया जाता है।

भद्रायां परिशिष्टाः स्यु परुषासाऽभिधीयते।
भवति यस्यामूष्माणः संयुक्तास्ततदक्षरैः।।
अकारवर्जभावृत्तिः स्वराणामतिभूयसी।
अनुस्वारविर्सगौं च पारुष्याय निरन्तरौ।।[2]

---

(1) अग्निपुराण 343 / 3–5

(2) अग्निपुराण 343 / 6–7

अनेकवर्णावृत्ति — अग्निपुराण में आवृत्तिवर्णों के अर्थ भिन्न–भिन्न बताए हैं। ऐसी आवृत्ति यमक कही जाती है। इसके भी अग्निपुराणकार ने दो भेद किये हैं– अव्यपेत और व्यपेत। अव्यपेत यमक कहलाता है जहॉ वर्णों की आवृत्ति लगातार होती हैं वह व्यपेत है।

यमक अलंङ्कार– यमक अलंङ्कार में पदों की आवृत्ति होती हैं और उन आवृत्त पदों में पद या प्रातिपादिका का अर्थ भेद नहीं, केवल तात्पर्यमात्र में भेद होता है। यमक में वर्णों की आवृत्ति होती है। वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हो तो उनके अर्थ का भेद होना सार्थक है। वहॉ उनका भिन्नार्थकत्व अनिवार्य है। इसी बात को यमक के लक्षण में दिखलाते हैं।

''अर्थे सत्यर्थभिन्नाम् वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्''

अर्थ होने पर (नियमेन) भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम में (सा) पुनः श्रवण (पुनरावृत्ति) यमक नामक शब्दालंङ्कार कहलाता है।

यहॉ लक्षण में अर्थे सति 'अर्थभिन्नां' यह कहा गया है। केवल 'भिन्नार्थनां' यह नहीं कहा गया हैं। इसका कारण यह है कि यदि 'भिन्नार्थाना' यह कहा जाता तो आवृत्त पद दोनों स्थलों पर सार्थक पर होना आवश्यक हो जाता। क्योंकि दोनों के सार्थक होने पर एकार्थता या भिन्नार्थकता हो सकती हैं। यमक स्थल में यह आवश्यक नहीं कि आवृत्त वर्ण दोनों स्थलों पर सार्थक ही हो। इसलिये लक्षण में केवल 'भिन्नार्थानां न लिखकर अर्थे सति अर्थभिन्नां यह रखा गया हैं।

अनेकवर्णा वृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका।
यमकं सऽत्यपेतं च त्यपेतं चेति तद्द्विधा
आनन्तर्यादत्यपेतं च त्यपेतं व्यवधानतः।।[1]

---

(1) अग्निपुराण 343/6–7

अग्निपुराण में उपर्युक्त यमक द्विपद के पुनः तीन भेद है–

(1) आदि (2) पादमध्य (3) पदान्त

और फिर यमक के सात भेद किए इसी प्रकार पाद यमक के भी एकपाद, द्विपाद और त्रिपाद के क्रम से इसके सोलह भेद किए है।

द्विविध्ये नानयोः स्थानपाद भेदाच्च तु र्विघम्।
आदिपादादिमध्यान्तेष्वेक द्वि त्रिनियोगतः ।।
सप्तधा सप्तपूर्वेण चेत्पादेनोत्तरोत्तरः।
एक द्वित्रिपदारम्भस्तुल्यः शोढ़ा तदापरम्।।[1]

तीन प्रकार का तीसरा यमक पदादि पादमध्य, पदान्त काच्ची यमक , संसर्ग यमक, विक्रात्त यमक, पादादि यमक, आम्रेडित यमक, चतुर्व्यसित यमक तथा मालायमक। ये दस प्रकार के यमक अग्निपुराण में श्रेष्ठ माने गए हैं। इसमें अन्य बहुत से भेद हैं।

त्रतीयं त्रिविधं पादस्याऽऽंदिभघ्यान्तगोचरम्।
पदान्तयमकं चैव काच्चीयमकमेव च।।
संसर्गयमकं चैव विक्रात्तयमकं तथा।
पदादि यमकं चैव तथा ऽऽम्रेडितमेव च।।[2]

मम्मट ने भी अपने काव्य में यमक अलङ्कार के भेदों का वर्णन किया है। यमक में वर्णों की आवृत्ति होती है। वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थ का भेद होना आवश्यक है।

चित्र– आग्निपुराण मे कावियों की गोष्ठी में पढने मात्र से कुतूहल उत्पन्न करने वाला व्यक्ति कवि का (वाम्वन्ध, शब्दगुम्फन) चित्र कहलाता है। नाना अर्थों के अनुयोग से इसके सात भेद है।

---

(1) अग्निपुराण 343/11–12

(2) अग्निपुराण 343/13–14

(1) प्रश्न (2) प्रहेलिका (3) गुप्तपद (4) च्युतपद

(5) दन्तपद (6) च्युतदन्तपद (7) समस्या आदि

गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धष्चित्रमुच्यते।

प्रश्नः प्रहेलिका गुप्त युतें दत्ते तथोभयम्।।

समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः।

यत्र प्रदीयते तुल्य वर्ण विन्यासमुन्तरम्।।[1]

प्रष्न– जहॉ समान वर्णो के विन्यास द्वारा उत्तर दिया जाता है। उसे प्रश्न कहते है। इसके दो भेद है। एक पृष्ठ प्रश्नोत्तर तथा द्विपृष्ठ प्रश्नोत्तर। एकपृष्ठ प्रश्नोत्तर के भी दो भेद होते है– समस्त और व्यस्त।

स प्रष्नः स्यादेकपृष्ठ द्विपृष्ठोत्तर भेदतः।

द्विधैकपृष्ठो द्विविधः समस्तो व्यस्त एव च।।[2]

प्रहेलिका – जहॉ द्वयर्थक गुह्य शब्दों का प्रयोग हो उसे प्रहेलिका कहते है। इसके भी दो अर्थ है– शाब्दी और आर्थी।

द्वयोरप्यर्थ योर्गुह्तमान शब्दो प्रहेलिका।

स द्विघाऽऽर्थी च शाब्दी च तत्राऽऽर्थी चार्थबोधतः।।[3]

गुप्त–जब किसी वाक्य में वाक्याङ्ंग, गुप्त होते हुए भी भावी अर्थ की सिद्धि करने वाला हो, उस अंङ्क की आकांक्षा से जब इनका समावेश गूढ़ होते हुए भी कहा जाता हैं। तो उसे गुप्त कहते है।

शब्दाववोधतः शाब्दी प्राहुः शोढ़ा प्रहेलिकाम्।

यस्मिन्गुप्तेऽपि वाक्याङ्गे भाव्यर्थोऽप (पा) रमार्थिकः।।

तदंङ्गे विहितकाऽक्षस्त गुप्तं गूढमप्यदः।

यत्रार्थान्त निर्भासो वाक्याङ्गच्यवनादिभिः।।[4]

---

(1) अग्निपुराण 334 / 22–23 (3) अग्निपुराण 334 / 25–26

(2) अग्निपुराण 334 / 24 (4) अग्निपुराण 334 / 27

च्युत— जहाँ किसी वाक्यांङ्ग के स्खलन से अन्य अर्थ की प्रतीति हो, उस स्खलन अंङ्ग की आकाक्षां से सम्बन्ध निर्वाह हो जाये उसे च्युत कहते है। इसके भी चार भेद होते है— स्वरच्युत, व्यंजनच्युत, अनुस्वारच्युत और विसर्गच्युत।

तदेङ्ग विहिताकाङ क्षस्तद्गुप्तं गूढमप्यदः।
यत्रार्थान्तरनिर्भासो वाक्याङ्ग च्यवनादिभिः।।
तदंङ्ग विहिताकाङ क्षस्तच्चु (च्चयु) तं स्याच्चतुर्विधम्।
स्वरव्यंजनविन्दूनां विसर्गस्य च विच्युते।।[1]

दन्त— जहाँ किसी वाक्यांङ्ग में किसी वाक्यांश कि देने मात्र से द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है। उसे दन्त कहते है। इसके चार भेद होते है—

दन्तेऽपि यत्र वाक्यांङ्गे द्वितीयोऽर्थः प्रतीयते।
दण्डं तदाहुस्तद्भेदाः स्वराद्यैः पूर्ववन्मता।।[2]

च्युतदन्त— जहाँ हटाये हुए अक्षर के स्थान पर किसी अन्यवर्ण के रखने से अर्थान्तर की प्रतीति होती है।

अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च।
भा सतेऽर्थान्तर यत्र च्युतदन्तं तदुच्यते।।[3]

समस्या— विभिन्न श्लोकांशों सुनियोजित पद्य समस्या कहलाता है। इसके भी दो भेद हैं।

सुष्लिष्टपद्यमेकं यन्नानाष्लोकंषनिर्मितम्।
सा समस्या परस्याऽऽमपरयोः कृति संकरात्।।[4]

---

(1) अग्निपुराण 342/27—28
(2) अग्निपुराण 342/29
(3) अग्निपुराण 342/30
(4) अग्निपुराण 342/31

चक्रबन्ध आदि का निरूपण

अग्निपुराणकार ने चक्रबन्ध के दो प्रकार किए है। पहला चार अरों का और दूसरा छः अरों का उनमें से जो आदिम चार अरों वाला चक्र है। उसके पूर्वार्द्ध में समवर्णो की स्थापना की जाती है और प्रत्येक पाद के जो प्रथम पंचम आदि विषय वर्ण हैं। उनको चौथे और आठवें समवर्गों को क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के अरों में रखेंगे।

द्विधा चक्रं चतुररं शडरं तत्र चाऽऽदिमम्।
पूर्वार्द्धे सद्वषा वर्णाः पादप्रथमपंचमाः।।
अयुजोऽष्वयुजष्चैव तुर्यावप्यष्टमावपि ।
तस्योदक्प्रागवाक्प्रत्यगरेषु च यथाक्रमम्।।[1]

उत्तर पदार्थ के चार अक्षरों को नाभि में रखें और उसके आदि अक्षर को पिछले दो अरों में ले जायें शेष दो पदों को नाभि में स्थापित करें। तृतीय अक्षर को चतुर्थ पाद के अन्त में तथा प्रथम दो समवर्णो को तीन पादों के अन्त में स्थापित करें। यदि दसवां अक्षर सम हो तो उसे प्रथम अरे पर स्थापित करें वे दो–दो के अन्तर में स्थापित होगें। इस प्रकार "वृह्त्चक्र" का निमार्ण होगा। अग्निपुराण में "वृह्त्चक्र" का वर्णन भी संक्षिप्त रूप मे किया गया है। जो इस प्रकार है। "वृह्त्चक्र" में बताया गया है कि सामने के दो अरों में क्रमशः एक–एक पाद लिखे हैं। नाभि मे दशम् अक्षर अंकित करें और नाभि में चतुर्थ चरण को ले जायें।

---

(1) अग्निपुराण 343/48–49

स्यात्पादार्थचतुष्कं तु नाभौ तस्याऽऽद्यमक्षरम्।
पष्चिमारावधि नयेन्नेमौ शेषे पदद्वयी।।
तृतीयं तुर्यपादान्ते प्रथमौसद्वशाकभौ।
वर्णौ पादत्रयस्यापि दषम्ः सवृषौयदि।।
प्रथमे चरमे तस्य शङ्वर्णाः पश्चिमे यदि।
भवति द्वयन्तरं तहि वृहच्चक्रमुदाह्रतम्।।
समुखारद्वये पादमेकैकं क्रमशो लिखेत्।
नाभौ तु वर्णं दशमं नेमौ तुर्यपदं नयेत्।।[1]

काव्यप्रकाश में मम्मटाचार्य ने भी इन चक्रबन्ध के कई भेद किये हैं और इसके श्लोकों का वर्णन भी किया है। जो इस प्रकार है। यह बन्ध आठ प्रकार का होता है। प्रमुख चक्रबन्धों का निरूपण अग्निपुराण में भी किया गया है।

(1) कमलबन्ध (2) सर्वतों भद्रबन्ध (3) खड्गबन्ध (4) मुरजबन्ध
(5) पद्यबन्ध (6) गोमूत्रिकाबन्ध (7) दण्डचक्रः बन्ध (8) चक्रबन्ध

कमलबन्ध— कमलबन्ध के अग्निपुराणकार ने तीन भेद किए हैं— (1) चर्तुदल (2) अष्टदल (3). षोडशदल। चतुर्दल कमल को इस प्रकार से आबद्ध किया जाता है। प्रथम पाद के ऊपरी तीन पदों वाले अक्षर सभी पादों के अन्त में रखे जाते हैं। पूर्व पाद के अन्तिम वर्ण को पिछले पाद के आदि में प्रतिलोम्यक्रम में रखा जाता है। अन्तिम पाद के अन्तिम दो अक्षरों को प्रथम पाद के आदि में निविष्ट किया जाता है। यह स्थिति चर्तुदल कमल की होती है। अष्टदल कमल में अन्त्यपाद के अन्तिम तीन अक्षरों को प्रथम पाद के आदि में विन्यस्त किया जाता है। षोड्श दल कमल दो अक्षरों के बीच में कर्णिका मध्यवर्ती एक अक्षर का उच्चारण होता है। कर्णिका के अन्त में ऊपर पत्राकार अक्षरों की पंक्ति लिखें और उसे कर्णिका में प्रविष्ट कराऐं।

---

(1) अग्निपुराण 343 / 50—53

अथ प्रथमपादस्य मूर्धन्यं त्रिपदाक्षरम्।
सर्वेषामेव पादानामन्ते तदुपजायते।।
प्राक्यपदस्यान्तिमं प्रत्यक्पादादौ प्रतिलोम्यतः।
अन्त्यपादान्तिम चाऽऽद्यपादावक्षरद्वयम्।।
चतुरछेदे भवेदष्टच्छदे वर्णत्रयं पुनः।
स्यात्षोऽषच्छदे द्वयेकान्तरं चेदेकमक्षरम्।।
कर्णिकान्ते लिखेदूर्ध्व पत्राकाराक्षरावलिय्।
प्रवेशयेत्कार्णिकायां चतुष्पत्रसरोरुहे।।[1]

सर्वतोभद्रबन्ध– सर्वतोभद्रबन्ध का यह उदाहरण रूद्रट के काव्यालंङ्कार में इस प्रकार से वर्णित हैं।

रसासार। रसा सारसायताक्ष?क्षतायसा।
सातावातं? तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर।।[2]

सर्वतोभद्र के श्लोक के चारो चरणों के अक्षरों को साधारण रूप से अलग–अलग करके चार पंक्तियों में लिख देना ही पर्याप्त होगा। उनकी रचना की विशेषता यह होती है कि प्रत्येक चरणों को सीधी ओर से अथवा उल्टी ओर से चाहे किसी ओर से पढ़ा जाय एक ही प्रकार का पाठ उपलब्ध होगा। इसी प्रकार प्रत्येक पाद के प्रारम्भिक चार तथा अन्तिम चार अक्षरों का अनुलोम–विलोम, सीधे–उल्टे, किसी भी रूप से पढने में एक सा पाठ रहता है। चारों पादों के प्रथम और अष्टम् अक्षरों की पक्तियों को ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर किसी भी रूप में पढ़ने से श्लोक का दूसरा चरण बन जाता है।

---

(1) अग्निपुराण 343/42–45
(2) काव्यशास्त्र नवमउल्लास/389

इस प्रकार चरणों के तीसरे छठे अक्षर और चौथे और पांचवे अक्षरों को ऊपर नीचे किसी भी ओर से पढ़ने से श्लोक का तीसरा और चौथा चरण बन जाता हे। इस प्रकार सर्वतोभद्र में अनेक प्रकार से घुमाफिराकर श्लोक पढ़ा जा सकता है। इसलिये रूद्रट में अपने का काव्यालंङ्कार में इस का नाम सर्वतोभद्र रखा है। इसका लक्षण–

''तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सवर्तः''

इसी भावना को व्यक्त करता है। सर्वतोभद्र का यह उदाहरण प्रस्तुत है।

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र

खड्गबन्ध– यह खड्गबन्ध है। प्रस्तुत श्लोकों से खड्ग का आकार बन जाता है।

मरारिशक्र रामेभ मुखैरासार रंहसा।
सारारब्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा।।
माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधित सम्भ्रमा।
मान्याऽथ सीमा रामाणां शं में दिष्यादुमादिया।।[1]

सबसे पहले मूठ के ऊपर और नीचे दो शाखा वाला ऊपरि लिखित प्रकार का चित्र बना लेंगे और उसकी मूठ के निचले हिस्से के बीच में श्लोक का प्रथम अक्षर मा लिखेंगे।

---

(1) काव्यशास्त्र नवम्उल्लास / 385–386

तलवार कीसबसे निचली नोक के बीच में प्रथम श्लोक के पूर्वार्द्ध का अन्तिम अक्षर 'सा' लिखेंगे। अब प्रथम श्लोक के शेष अक्षरों को 'मा' के बाद से आरम्भ करके खड्ग के एक ओर से लिखते हुए चले जाएँगे। तो तलवार की निचली नोक पर पूर्वार्द्ध 'सा' अक्षर पर समाप्त हो जाएगा।

इसी प्रकार द्वितीय श्लोक के तृतीय तथा चतुर्थ दोनों चरण मूठ के ऊपर वाले भाग के दोनों ओर लिखे जा सकते हैं। इस प्रकार वे दोनों श्लोक तलवार के आकार में आ जाते हैं।

मुरजबन्ध– रूद्रट के आधार पर मुरजबन्ध का उदहारण प्रस्तुत है–

सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा।

वारला बहुलामन्दकरला बहुलामला।।[1]

प्रस्तुत श्लोक के चारो चरणों के सारे वर्णों को अलग–अगल करके चार पक्तियों में लिखकर उनकों रेखाओं से जोड़ देने से उसकी रचना मुरज वाद्य के समान हो जाती है। इसलिए यह मुरजबन्ध के नाम से प्रसिद्ध है।

पद्यबन्ध– पद्यबन्ध उदाहरण इस प्रकार है–

भासते प्रतिभासार। रसाभाताहताविभा।

भावितात्या शुभा वादे देवाभाबत ते सभा।।[2]

इसमें पहले अष्टदल का चित्र बनाकर उसके केन्द्र में श्लोक का प्रथम अक्षर 'भा' रखकर श्लोक का विन्यास इस प्रकार हो जाता है कि उससे श्लोक के बत्तीस अक्षर के चारों चरण पढ़े जा सकते हैं।

---

(1) काव्यशास्त्र नवम्उल्लास / 287

(2) काव्यालंङ्कार सूत्र

दण्डचक्राबन्ध– श्लोक के आदि, अन्त और दशम् अक्षर समान हों तथा दूसरे और चौथे चरण के प्रथम चतुर्थ और पंचम वर्ण भी समान हों द्वितीय चरण को विलोम क्रम से पढ़ने पर यदि तृतीय चरण बन जाता है। तो उसे पत्र के स्थान में स्थापित करें, तो उस रचना का नाम दण्डचक्राबन्ध कहते है।

द्वितीयप्रातिलोम्येन तृतीयंजायते यदि।

पदं विदध्यात्पत्रस्य दण्ड 'चक्राब्जकं वृत्तेः।।[1]

चक्रबन्ध– ये चक्रबन्ध शार्दूल विक्रीड़ित छन्द से सम्वादित होता है। अन्य सब बन्ध अनुष्टुप छन्द से निर्मित होते हैं। इन बन्धों में कवि और काव्य का नाम न हो तो मित्रभाव रखने वाले लोग सतुष्ट होते हैं।

द्वितीयं चक्रशार्दूलविक्रीडितकसंपदम्।

नामधेयंयदि न चेदमीषु कविकाव्ययोः

मित्रधेयानि तुश्यन्ति नामित्रः खिद्यते तथा।।[2]

गोमूत्रादि बन्धों का कथन– गोमूत्रदि बन्धों का कथन अग्निपुराणकार ने प्रस्तुत किया हैं। जिसका वर्णन इस प्रकार है– श्लोक के दोनों अर्थभागों तथा प्रत्येक पाद में एक–एक अक्षर के व्यवधान से अक्षर साम्य प्रयुक्त हो उसको गोमूत्रिका बन्ध कहते हैं। गोमूत्रिका बन्ध के दो भेद कहे जाते हें।

जिसको कुछ काव्य के आचार्यों ने अश्वपदा भी कहा है। वह प्रति अर्धभाग में एक–एक अक्षर के बाद में अक्षर साम्य से युक्त होती है। गोमूत्रिकाबन्ध को अग्निपुराणकार और काव्यकारों ने धेनुबन्ध जाल भी कहा है। वह प्रत्येक पद में एक–एक अक्षर के अन्तर से अक्षर साम्य समन्वित होती है।

द्विधा गोमूत्रिकां पूर्वामाहुरष्वपदां परे।

अन्त्यां गोमूत्रिकां धेनुं जालबन्धं वदन्तिहि।।[3]

गोमूत्रिका बन्ध सभी छन्दों से निर्मित होता है।

---

(1) अग्निपुराण 343/55

(2) अग्निपुराण 343/62–63 (3) अग्निपुराण 343/38

अर्थालंङ्कार

'प्रत्यर्थ शब्द भिद्यन्ते' इस प्रकार नियम के अनुसार प्रत्येक शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपादक होता है। जहां एक ही शब्द से दो या अनेक अर्थों की प्रतीति होती है वहां पर वस्तुतः एक शब्द नहीं होता है। यहॉ अर्थालंङ्कार रूप का निरूपण किया जा रहा है, इस शब्दालंङ्कार तथा अर्थालंङ्कार द्विविध स्वरूप का नियामक शब्दपरिवृत्तिसहत्व तथा परिवृत्यसहत्व ही है। जहॉ शब्द का परिवर्तन करके दूसरा समानार्थक शब्द रख देने पर श्लेष नहीं रहता है। वहॉ श्लेष को शब्द निष्ठ होने से शब्दालंङ्कार माना जाता है और जहॉ शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी श्लेष के चमत्कार की हानि नही होती है। वहॉ अलंङ्कार शब्द निष्ठ नहीं अपितु अर्थनिष्ठ होता है। इसलिये उसको अर्थालंङ्कार माना जाता है।

एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहॉ अनेक अर्थ होते हैं वह (शब्दपरिवृत्ति सह होने के कारण) अर्थालंङ्कार रूप श्लेष होता हैं। जैसे –

इस उदहारण में विभाकर नामक राजा की सूर्य के साथ समता दिखलाते हुए, स्तुति की गई हैं। विभाकर शब्द, विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनों का वाचक है। उसका परिवर्तन कर देने पर दोनो अर्थों की प्रतीति न होने से श्लेष नहीं रहता है इसलिए यह परिवृत्यसह हैं। अतः इस अंश में शब्द श्लेश हैं। शेष सब विशेषण विभाकर राजा तथा सूर्य दोनों पक्षों में घट जाते हैं और शब्दों का परिवर्तन कर देने पर श्लेष की हानि नहीं होती है, इसलिए उनमें अर्थालंङ्कार रूप श्लेष होता है।

देदीप्यमान तेजः समूह से युक्त विभाकर (नामक राजा विभाकर अर्थात् सूर्य के समान) शोभित हो रहा है। वह (सूर्य के समान ही) उदय (वृद्धि) को प्राप्त होता है, दिशाओं की मलिनता (सूर्यपक्ष में अन्धकार तथा राजा के पक्ष में पापाचरण) को विनष्ट करता है, सोने की अवस्था (निरुसाहता) का नाश करता है और (राजा के पक्ष में गमनागमनादिरूप तथा सूर्य पक्ष में सन्ध्योपासनादिरूप

विहित) क्रियाओं को प्रवृत करता है। और (सूर्य पक्ष में अभिसार आदि स्वैराचार तथा राजा के पक्ष में अन्याय, पापाचरण आदिरूप) उच्छृङ्खल आचार की प्रवृत्तियों का उच्छेद (कर्तन) करता है। इस प्रकार देदीप्यमान तेजः समूह से विभूषित विभाकर (राजा, विभाकर अर्थात सूर्य के समान) शोभित हो रहा है यह बड़ी प्रसन्नता की बात है।

यहॉ अभिधा का नियन्त्रण न होने से (विभाकर शब्द से) सूर्य तथा राजा दोनों वाच्य हैं।

काव्यलक्षण करते समय हमने **"अनलंङ्कृती पुनः क्वापि"** यह भी शब्दार्थी का एक विशेषण दिया गया है। उसको स्पष्ट रूप से समझने के लिये अलंङ्कारों का निरूपण किया गया है। इसलिये ग्रन्थ में अलंङ्कारों का समावेश आवश्यक हुआ है। इन अलंङ्कारों के शब्दालंङ्कार, अर्थालंङ्कार तथा उभयालंङ्कार नाम से तीन भेद किए गए हैं। जो अलंङ्कार शब्दपरिवृत्य सह होते हैं। अर्थात् किन्ही विशेश शब्दों के रहने पर ही जो अलंङ्कार रहते हैं और उन विशेष शब्दों को बदल कर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायें तो अलंङ्कारों उन अलंङ्कारों की स्थिती नही रहती है, वे अलंङ्कार उन विशेष शब्दों के आश्रित होने से शब्दालंङ्कार कहलाते हैं। और जो अलंङ्कार शब्दपरिवृत्त होते हैं। अर्थात् यदि उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायें तो भी अलंङ्कारों की कोई हानि नहीं होती है। वे अलंङ्कार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते है। इसलिये अर्थालंङ्कार कहलाते हैं।

अलंङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं। वे चमत्कार का आधान करते हैं। इस सौन्दर्य का चमत्कार होने पर ही काव्य मे काव्यत्व होता है। यदि काव्य में सौन्दर्य नहीं है तो वह काव्य नहीं है। भामह का कथन है–

'' अलंङ्कारों के द्वारा सौन्दर्य का आधान होने पर ही शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा जा सकता है। जिस प्रकार वनिता का मुख सुन्दर होते

हुये भी बिना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार अलंङ्कार से विहीन काव्य सरस होते हुये भी रमणीय नहीं होता। इसका उदाहरण कपित्थफल है। जो सरस होते हुये भी रमणीय नहीं है।

विश्वनाथ ने ''प्रतापरुद्रयशोभूषण'' में अलंङ्कारों के वर्गीकरण पर विशेष विचार किया। इस वर्गीकरण में उन्होने यद्यपि रस को ही आधार बनाया है तथापि उसमें थोड़ा सा परिवर्तन भी किया है। उन्होने अलंङ्कारों के मूलतत्व नौ मान कर अर्थालंङ्कारों को नौ वर्गों में विभाजित किया–

(1) साथर्म्य मूल (2) अध्यवसायमूल (3) विरोधमूल
(4) वाक्यन्यायमूल (5) लोकव्यवहारमूल (6) गम्यार्थप्रतीतिमूल
(7) अपहन्नवमूल (8) विशेषण वैचित्र्यमूल (9) शङ्खलावैचित्र्यमूल

अग्निपुराण के अनुसार– अर्थों के चमत्कार को अर्थालंङ्कार कहते हैं। इसके बिना काव्यसौन्दर्य, शब्दसौन्दर्य समन्वित होते हुए भी हृदयास्पर्शी नहीं हो सकते हैं। अर्थालंङ्कार विहीन काव्यकृति विधवा के समान होती है। अग्निपुराणकार ने आठ प्रकार के अलंङ्कारों का वर्णन किया है। जो इस प्रकार हैं–

(1) स्वरूप (2) सादृश्य (3) उत्प्रेक्षा (4) अतिशय
(5) विभावना (6) विरोध (7) हेतु (8) सम

अलंङ्कारणमर्थानमर्था लंङ्कार इश्यते।
तं विना शब्द सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।।
अलंङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।
स्वरूपमथ साद्वश्यमुत्प्रेक्षातिषयावपि।।
विभावना विरोधश्च हेतुष्च सममष्टधा।[1]

---

(1) अग्निपुराण 344/1–3

वस्तुओं के स्वभाव का तद्धत उल्लेख ही स्वरूप कहलाता है। इसके दो भेद हैं– निज और आगन्तुक। स्वाभाविक वर्णन निज कहलाता हैं तथा कारणवश वर्णन आगन्तुक कहलाता है।

निजमागुन्तुकं चेति द्विविधं तदुदाहृतम्।
सांसिद्धिकं निज नैमित्तिकमागन्तुकं तथा।।[1]

अलंङ्कार का सबसे प्राचीन विवेचन यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में हुआ है। उन्होने तो चार अलंङ्कारों का वर्णन किया हैं– उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यह कार्य भामह ने अपने काव्यालंङ्कार में किया इन्होंने 38 अलंङ्कारों की विवेचना की है। भामह और दण्डी ने 37 अलंङ्कारों के स्वरूप का वर्णन किया हैं। दण्डी का कथन –

''अलंड्.कारों की सम्पूर्ण रूप से गणना नही की जा सकती हैं, क्योंकि वे अनेक प्रकार के होते हैं। काव्य के सभी शोभाकर धर्म अलंड्.कार होते हैं।''

दण्डी के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अंलड्.कारों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि की है। इनमें उद्भट्ट, वामन, रूद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ प्रमुख हैं। इन अलंड्.कारों की विवेचना मौलिक रूप से अग्नि पुराण में भी मिलती है।

भामह ने छत्तीस अर्थालंड्.कार माने हैं। जो इस प्रकार हैं–

(1) उपमा	(2) उपमेयोपमा	(3). रूपक	(4) उपमारूपक
(5). उत्प्रेक्षा	(6) उत्प्रेक्षावयव	(7) दीपक	(8) आक्षेप
(9) अर्थान्तरन्यास	(10) व्यतिरेक	(11) विभावना	(12) विशेषोक्ति
(13) समासोक्ति	(14) अतिशयोक्ति	(15)यथासंख्या	(16) स्वाभावोक्ति

---

(1) अग्निपुराण 344/4

(17). अपह्नुति	(18) श्लेषसन्देह	(19) पर्यायोक्ति	(20) समाहित
(21).उदान्त	(22)तुल्योगिता	(23)विरोध	(24)अनन्वय
(25)अप्रस्तुतप्रशंसा	(26).व्याजस्तुति	(27)निदर्शना	(28).सहोक्ति
(29)परिवृत्ति	(30)आशी	(31)संसृष्टि	(32)भाविक
(33) रसवद्	(34)सन्देह	(35.)प्रेय	(36) उर्जस्वि।

इसी प्रकार काव्यप्रकाश में 61 अर्थालंङ्कारों और एक उभयालंङ्कार कुल मिलाकर 62 अलंङ्कारों का निरूपण किया गया है। परन्तु अलंङ्कारों की संख्या भिन्न आचार्यों के मत में अलग–अलग पायी जाती है। भरत के नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलंङ्कारों का वर्णन पाया जाता है। वामन ने इसके 33 भेद दिखलाए हैं। दण्डी ने 35 प्रकार, भामह ने 39 प्रकार के और उद्भट्ट ने 40 प्रकार के अलंङ्कारों का वर्णन किया है। जयदेव के चन्द्रालोक में अलंङ्कारों की संख्या 100 हो गयी है। उनके व्याख्याकार अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द में उसको बढाकार 124 तक पहुंचा दिया है। जिसका संग्रह हमने इस प्रकार दिया है।–

उपमा रूपकं चैव दीपको यमकस्तथा।
चत्वार एवालंङ्कारा भरतेन निरूपिताः।।[1]
वामनेन त्रयस्त्रिंशद् भेदास्तस्य निरूपताः।
पच्त्रिंशद्विधश्चायं दण्डिना प्रतिपादितः।।[2]
नवत्रिंशद्विधश्चायं भामहेन प्रकीर्तितः।
चत्वारिशद्विधश्चैव उद्भटेन प्रदर्शितः।।[3]
द्विवउचाशद्विधः प्रोक्तो रूद्रटेन ततः परम्।
सप्तशष्टिविधः प्रोक्तः प्रकाशे मम्मटेन च।।[4]
शतधा जयदेवेन विभक्तो दीक्षितेन च।
चतुर्विंशति भेदास्तु कृता एकशतोत्तरा।।[5]

सादृश्य अलंङ्कार

जहॉ पर साधारण धर्म की समानता दिखाई जाये वहां सादृश अलंङ्कार होता है। इसके चार प्रकार हैं– उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तरन्यास।

काव्यप्रकाश में प्रतिपादित 61 अर्थालंङ्कारों में (1) उपमा (2) उपमेयोपमा (3) अनन्वय (4) स्मरण (5) रूपक (6 सन्देह (7) भ्रान्तिमान (8) अपह्नुति (9) उत्प्रेक्षा (10) अतिशयोक्ति (11) तुल्योगिता (12) दीपक (13) प्रतिवस्तूपमा (14) दृष्टान्त (15) निर्दशना (16) व्यतिरेक (17) सहोक्ति (18) सभासोक्ति आदि 18 अलंङ्कार सादृश्य अलंङ्कार हैं। अतः अन सब वर्गो में सबसे अधिक संख्या सादृश्य अलंङ्कारों की है। उक्त सादृश्य मूलक अलंङ्कारों का आधार भूत उपमा अलंङ्कार है, इसलिये सबसे पहले उपमा अलंङ्कारों का निरूपण किया है।

उपमा अलंङ्कार

''साघर्म्यभुपमा भेदे''

उपमा अलंङ्कार में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म या सादृश्य तथा उपमावाचक शब्द इन चार का बोध होता है।

सदृश्यं धर्मसामान्य मुपमा रूपकं तथा।
सहोक्त्यर्थान्तस्यासाविति स्यातु चतुविधम्।।
उपमा नाम सा यस्यामुपपमा नोपमेययोः।
सत्ता चान्तरसाभान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम्।।[1]

दो सादृश पदार्थों में प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ उपमान और न्यूनगुण वाला पदार्थ उपमेय होता है। मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है, यहॉ अधिक गुण वन्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान है और न्यूनगुण वाला सम्भवित मुख उपमेय है।

---

(1) अग्निपुराण 344/5–6

सौन्दर्य या मनोज्ञात्व उन दोनों का समान धर्म है और यथा इव आदि शब्द उपमा के वाचक शब्द होते है। इन उपमान तथा उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंङ्कार कहलाता है। परन्तु उपमा में उन उपमान तथा उपमेय का भेद होना आवश्यक है। रामरावणोयोंर्युद्ध रामरावणयोरिव इत्यदि स्थलों में भी सादृश्य का वर्णन किया गया है।

अलंङ्कार का मूल उपमा

अप्पय दीक्षित ने उपमा का सब अलंङ्कारों का एकमात्र मूल कारण माना है। उनके अनुसार अकेली उपमा रूपिणी नर्तकी ही विभिन्न अलंङ्कारों की भूमिका को प्राप्त करके काव्यरूपी रंगमंच पर नृत्य करती हुयी सहृदय जनों के सहृदयों को आनन्दित करती है।

राजशेखर ने उपमा को अलंङ्कारों में शिरोमणि काव्य सम्पत्ति का सर्वस्व और कवि वंश की माता कहा है।

प्रायः समस्त आलंङ्कारिकों ने उपमा अलंङ्कार का अनेक अर्थालंङ्कारों का मूल बतलाया गया है और इसको ही प्रथमतः निरूपण किया है। आचार्य वामन आदि ने तो साधर्म्य मूलक अलंङ्कारों को उपमा का प्रपंच्मात्र ही बतलाया है **''प्रतिवस्तु प्रभृतिरूपमाप्रंपचः''**।

उपमा दो प्रकार की है– पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमावचक (इन चारों) अवयवों का ग्रहण होने पर पूर्णोपमा होती है। तथा इनमें से एक, दो या तीन का लोप (अकथन) होने पर लुप्तोपमा होती है।

''पूर्णो लुप्ता च''।।[1]

इनमें पहली (अग्रिमा) अर्थात् पूर्णोपमा (प्रथमतः) श्रौती तथा आर्थी (दो प्रकार की) होती है।

---

(1) काव्यप्रकाश 10/126

(श्रौती और आर्थी भी) वाक्य समास तथा तद्धित में (तीन दो प्रकार की) होती है।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धितेतथा।।[1]

(श्रौती) यथा, इव, वा आदि शब्द जिसके अनन्तर प्रयुक्त होते है, (यत्पराः) उसके ही उपमान होने की प्रतीति होती है। इस प्रकार यद्यपि ये (यथा) आदि उपमान के विशेषण होते है। तथापि शब्द शक्ति की महिमा के कारण श्रवण से ही षष्ठी विभक्ति की भॉति (साधर्म्य) सम्बन्ध का बोध कराते हैं। इसलिये इन (यथा आदि) के (प्रयोग) होने पर श्रौती उपमा होती है उसी प्रकार 'तंत्र तस्येय (5/1/116, पाणिनि सूत्र) से इव (समानता) के अर्थ में विहित 'वति' (वत् प्रत्यय के प्रयोग में भी) श्रौती उपमा होती है।

आर्थी (क) तेन तुल्यं मुखम् (उस कमल आदि के तुल्यमुख है) इत्यादि में उपमेय में ही तथा (ख) वह कमल (तत्) इस मुख के (अस्य) सदृश है। (तुल्यम्) इत्यादि में उपमान में ही और (ग) यह मुख (इदं) और वह कमल (तत्) तुल्य है। यहॉ दोनो (उपमेय तथा उपमान) में भी (सादृश्य का बोध कराकर) 'तुल्य' आदि शब्दों का व्यापार समाप्त हो जाता है। (विश्रान्तिः) इस प्रकार साधारण धर्म का अनुसन्धान (विमर्श करने पर ही दोनो में तुल्यता की प्रतीति होती है।) अतएव यहॉ सार्धम्य अर्थ द्वारा आक्षिप्त (आक्षेपगम्य या अर्थलभ्य) है, तथा तुल्य आदि शब्दों के प्रयोग में आर्थी उपमा होती है।

उसी प्रकार तेन तुल्य क्रिया चेद् वति (5/1/115 इस (पाणिनी सूत्र) से विहित "वति" (वत्) व्रत्यय के प्रयोग (स्थिति में भी) "इव" (शब्द के साथ (सुवन्त का) नित्यसमास होता है। विभक्ति का लोप नही होता तथा पूर्वपद का जो स्वर होता है वही समास दशा में भी रहता है। इस–(वार्तिक) से निव्य समास होने पर इव शब्द के प्रयोग में समानता (श्रौती) उपमा होती है। जैसे–(''**जी मूतस्वेव भवति प्रतीकम्**'')।

उपमा के प्रथमतः दो भेद हैं– पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा। जो उपमा चारों अंङ्गों से पूर्ण होती है वह पूर्णोपमा है। जहां एक भी अंङ्ग की न्यूनता

होती है वह लुप्तोपमा है। पूर्णोपमा के भी पहले दो भेद किए गये हैं–एक श्रौती तथा दूसरी आर्थी। श्रौती उपमा वह है जहां यथा, इव आदि शब्द के श्रवण मात्र से ही साधर्म्य की प्रतीति हो जाती है।

आर्थी उपमा वह है जहां साधर्म्य की प्रतीति अर्थवशात् होती है तुल्य आदि शब्दों द्वारा आक्षेपलभ्य होती है।

उदाहरण– **(षड्विध पूर्णोपमा)**

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुच्ति।

प्रभाव प्रभवं कान्तं स्वाधीन पतिका यथा।।[1]

(वाक्यता श्रौती) हे राजन, संग्राम में विजय श्री आपको स्वप्न में भी इसी प्रकार नही छोड़ती जिस प्रकार स्वाधीनपतिका नायिका प्रकृष्ट अनुराग (प्रभाव) के उत्पत्ति हेतु (प्रभव) अपने प्रियतम को।

(वाक्यगा आर्थी) चकित हरिण के समान चंचल नेत्रों वाली उस नायिका का यह मुख जो कोप में तरूण अरुण की उत्कृष्ट (तार) तथा मनोहर कान्ति वाला हो जाता है, और यह कमल के दोनों समान हो जाते हैं, इसलिये नायक के ह्रदय में (यह मुख) हर्ष उत्पन्न करता है।

चकित हरिण लोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकात्ति।

सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदंविधन्ते।।[2]

पूर्णोपमा के आगे नाम गिनाये गये हैं और उदाहरण नहीं दिये है। जो इस प्रकार है–

समासगा श्रौती, समासगा आर्थी

तद्धितगा श्रौती, तद्धितमा आर्थी

''तदृद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः।।''[3]

---

(1) काव्यप्रकाश 10/392

(2) काव्यप्रकाश 10/393 (3) काव्यप्रकाश 10/128

(पंचविधा धर्मलुप्तोपमा) उस (पूर्णोपमा) के समान ही धर्म का लोप होने पर उपमा अर्थात्, धर्म लुप्तोपमा होती है, किन्तु यह तद्धितगा श्रौती नहीं होती।

धर्म अर्थात् साधारण धर्म। तद्धित अर्थात् कल्पप् (देश्य देशीयर) आदि में तो आर्थी ही लुप्तोपमा होती है।

इस प्रकार इसके पांच भेद होते हैं–

(1) वाक्यगा श्रौती (2) वाक्यगा आर्थी (3) समासगा श्रौत (4) समासगा आर्थी (5) तद्धितगा आर्थी

उदाहरण–

धन्यस्यानन्य सामान्य सौजन्योत्कर्ष शालिनः।
करणीयं वचश्चेतः सत्यं तस्यामृत यथा।।[1]

हे चित्त असाधारण सौजन्य की अधिकता से युक्त तथा सर्वोत्कृष्ट (धन्यस्य) उस सज्जन के अमृत जैसे वचन का निश्चय ही (सत्यम्) पालन करना चहिये।

उपमान लुप्तोपमा

''उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा।।''[2]

(द्विधा उपमानलुप्तोपमा) उपमान का लोप होने पर वाक्यगा तथा समासगा दो प्रकार की उपमानलुप्तोपमा होती है।

जैसे– समस्त इन्द्रियों (करण) की परमविश्रान्ति (विषयान्तर वैमुख्यं) तथा (श्री) प्रदान करने वाले सरसकाव्य के सदृश अंशमाात्र में भी अन्य कुछ वस्तु न देखी जाती हैं, न सुनी जाती हैं।

सकलकरण पर विश्राम भी वितरणं न सरसकाव्यस्य।
दृष्यतेऽथवा निषम्यते सद्वषमंषां मात्रेण।।[3]

---

(1) काव्यप्रकाश 10/397

(2) काव्यप्रकाश 10/129

(3) काव्यप्रकाश 10/400

वाचकलुप्तोपमा

''वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि कर्म कर्त्रोर्णमुलि।।''[1]

वा (इव) आदि का लोप (अनुपादान) होने पर वह (वाचकलुप्ता) उपमा, समास में कर्म तथा अधिकरण से होने वाले 'क्यच' में क्यङ् प्रत्यय में कर्म तथा कर्तृ उपपद वाले णमुल् प्रत्यय में होती है, वा शब्द उपमाद्योतक है इसलिए वा इत्यादि उपमा वाचक शब्द का लोप होने पर (लुप्तोपमा के) 6 भेद होते हैं–

(1) समास के द्वारा

(2) कर्म से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय

(3) अधिकरण से उत्पन्न क्यच् प्रत्यय के द्वारा

(4) कर्ता से विहित क्यङ् प्रत्यय द्वारा और

(5) कर्म उपपद होने पर (णमुल्) या

(6) कृर्तउपपद होने पर णमुल् प्रत्यय द्वारा

उदाहरण :–

ततःकुमुदनाथेन कामिनीगण्ड पाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता।।[2]

तत्पश्चात् कामिनी के कपोल (गण्ड) के समान पीतवर्ण, नेत्रों को आनन्द देने वाले कुमुदनायक चन्द्रमा ने महेन्द्र की दिशा (पूर्व अलंङ्कृत किया)

द्विधा धर्मवाचकलुप्ता, एतद्विलोपे क्विप्समासगा।।[3]

इन दोनों (धर्म तथा वाचक) का लोप होने पर क्विप् प्रत्यय तथा समास में (दो प्रकार की द्विलुप्ता–उपमा होती है।)

---

(1) काव्यप्रकाश 10/130

(2) काव्यप्रकाश 10/401

(3) काव्यप्रकाश 10/131

उदाहरण– (क्विप्गा) चित्त के सुख या दुःख के वशीभूत हो जाने पर (क्रमशः) सूर्य, चन्द्रमा के तुल्य, चन्द्रमा सूर्य के तुल्य ,रात्रियां दिवस के तुल्य तथा दिवस रात्रियों के तुल्य हो जाते है।

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।

यामिनयन्ति दिनानि च सुख दुःख वषीकृते मनसि।।[1]

(समासगा) शत्रुओं के शतशः मनोरथों से भी दुष्प्राप्य (अजेय) वह श्रेष्ट राजा (राजकुंजरः) युद्ध में प्रवृत हुआ शोभायमान है।

परिपन्थि मनोराज्यषतैरपि दुराक्रमः।

सम्पराय प्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुंजरः।।[2]

एकधा वाचकोपमेयलुप्ता

''क्यचि वाद्युपमेयासे।।''

वा आदि तथा उपमेय दोनों का (एक साथ) लोप होने पर क्यच् प्रत्यय के विषय में द्विलुप्ता होती है। कारिका मे 'आसे' अर्थात् निरास (अनुपादान या लोप) होने पर।

शत्रुओ के पराक्रम के अवलोकन से जिसके नेत्र विकसित हो जाते हैं। कृपाण के ग्रहण से जिसका भुजदण्ड भीषण है वह यहॉ राजा सहस्र आयुध धारण करने वाले सहस्रवाहु के समान अपने आपको समझने लगता है।

अराति विक्रमालोक विकस्वर विलोचनाः।

कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति।।[3]

यहां पर (राजा) की आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप ही उपमेय है (जो लुप्त है)।

---

(1) काव्यप्रकाश 10/406

(2) काव्यप्रकाश 10/133

(3) काव्यप्रकाश 10/408

गणना, मालोपमा और रसनोपमा। इस भॉति 19 प्रकार की लुप्तोपमा छः प्रकार की पूर्णोपमाओं सहित 25 प्रकार की होती है।

मालोपमा

अनयेनेव राज्यश्री दैंन्येव मनस्विता।

मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा।।[1]

अनीति से राजलक्ष्मी के समान, दीनता से मनस्विता के समान तथा हिमजल से कमलिनी के समान वह नायिका (विरहजनित) वेदना से म्लान हो गई।

आाचार्य मम्मट का कथन है कि मालोपमा तथा रशनोपमा आदि विभिन्न भेदों का पृथक विवेचन करना युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि एक तो इस प्रकार अन्य भी सहस्रों उपमा के भेद हो सकते है अतः सबका विवेचन सम्भव नही दूसरे उपर्युक्त 25 भेदों में ही इन सबका अर्न्तभाव हो जाता है।

अग्निपुराण में उपमा अलंङ्कारों का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है और अग्निदेव ने उपमा अलंङ्कार के 18 भेदों का वर्णन इस प्रकार किया है–

उपमा के दो भेद है– समासोपमा और असमासोपमा। समासोपमा में पद संश्लिष्ट होते है, जबकि असमासोपमा मे उपमा वाचक पद का अथवा उपमेय पद का उल्लेख होता है इसमें पुनः तीन–तीन भेद होते हैं।

---

(1) काव्यप्रकाश 10/410

इस प्रकार उपमा के कुल 18 भेद हो जाते है।

किंचिदादाय सारुप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते।

समासेना समासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः।।

विग्रहाद भिधानस्य ससमासाऽन्यथोत्तरा।

उपमा द्योतक पदेनोपमेय पदेन च।।

ताभ्यां च विग्रहात्त्रेधा ससनासाऽन्तिमा त्रिधा।

विषिष्यमाणा उपमा भवन्त्यष्टादष स्फुटाः।।[1]

(क) **धर्मोपमा अलंङ्कार** — जहॉ साधारण धर्म का कथन होता है अथवा (कथन के अभाव) में उसकी प्रतीति होती है, वहां क्रमशः धर्म की प्रधानता के कारण धर्मोपमा अलंङ्कार होता है।

यत्र साधारणो धर्मः कथ्यते गम्यतेऽपि वा।

ते धर्म वस्तु प्राधन्या द्धर्म वस्तूपये उभे।।[2]

(ख) **वस्तूपमा अलंङ्कार** — वस्तु (विषय) की प्रधानता के कारण वस्तूपमा अलंङ्कार होता है।

(ग) **परस्परोपमा अलंङ्कार** – जहां पर उपमेय और उपमान के साधारण धर्मों की परस्पर तुलना प्रचलित रीति से की जाती है, वहां परस्परोपमा अलंङ्कार होता है।

(घ) **विपरीतोपमा अलंङ्कार** — यदि उपमान और उपमेय के साधारण धर्मों की तुलना लोक प्रचलित रीति के विरुद्ध की जावे तो विपरीतोपमा अलंङ्कार कहा जाता है।

---

(1) अग्निपुराण 344 / 7—9

(2) अग्निपुराण 344 / 10

तुल्य मेवोपमीयते यत्रान्योन्येन धर्मिणौ।
परस्परोपमासा स्यात्प्रसिद्धेरन्यथा तयोः।।
विरीतोपमासा स्याद्व्यवृन्ते र्नियमोपमा।
अन्यत्राप्यनुवृन्तस्तु भवेद नियमोपमा।।[1]

(ङ) **नियमोपमा अलंङ्कार** – जहां पर उपमेय का ही पृथक् महत्व स्थापन किया गया हो वहां नियामोपमा अलंङ्कार होता है।

जहां उपमेय की वैशिष्ट्य स्थापना नियमित रूप से न होना वहां अनियमोपमा अलंङ्कार होता है।

(च) **समुच्चयोपमा अलंङ्कार** – जहॉ पर उपमान उपमेय से भिन्न किसी वस्तु के धर्म की बहुलता का वर्णन हो वहॉ समुच्चयोपमा अलंङ्कार होता है।

समुच्चयोपमाऽतोऽन्य धर्म वाहुल्य कीर्तनात्।
वहोधर्मस्य सांम्येऽपि वैलक्षण्यं विवक्षितम्।।[2]

(छ) **व्यतिरेकोपमा अलंङ्कार** – जहॉ पर वहुधर्मो का उल्लेख होते हुये वैचिन्र्य अवश्यक हो । वहां उपमान अथवा उपमेय का उत्कर्ष बताया जावे। वहां पर व्यतिरेकोपमा अलंङ्कार होता है।

यदुच्यतेप्रतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा।
यत्रोपमा स्याद्वहुभिः सदृशैः सा वहूपमा।।[3]

(ज) **वहूपमा अलंङ्कार** – जहॉ पर उपमेय की अनेक उपमानों के साथ उपमा दी जाती है वहां पर वहूपमा अलंङ्कार होता है।

(झ) **मालोपमा अलंङ्कार** – जहॉ उपमेय की उपमा विभिन्न उपमानों के साधारण धर्म से की जाती है, वहॉ मालोपमा अलंङ्कार होता है।

धर्माःप्रत्युपमानं चेदन्या मालोपमैव सा।।[4]

---

(1) अग्निपुराण 344 / 11–12 (2) अग्निपुराण 344 / 13
(3) अग्निपुराण 344 / 14 (4) अग्निपुराण 344 / 15

(ञ) **विक्रियोपमा अलंङ्कार** – जहॉ उपमेय की तुलना उपमान के विकार से की जाती है वहां विक्रियोपमा अलंङ्कार होता है।

डपमानशिकारेण तुलना विक्रियोपमा।।[1]

(ट) **मोहोपमा अलंङ्कार** – जहॉ पर उपमेय में उपमान का आरोप करके कवि दोनों को अभेद का देता है। वहां मोहोपमा अलंङ्कार होता है। यहां भ्रन्ति भी बनी रहनी चाहिए।

प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्तिनम्।
उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ भ्रान्तिमदृचः।।[2]

(ठ) **अद्‌भुतोपमा अलंङ्कार** – जहॉ पर उपमेय में किसी लोकतिशायी बात का आरोप करके उसकी तुलना (उपमान के साथ) करता है वहां अद्‌भुतोपमा अलंङ्कार होता है।

त्रैलोक्या संभवि किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि।
कविनोपतीये या प्रथते साऽद्‌भुतोपमा।।[3]

(ड) **निश्चयोपमा अलंङ्कार** – जहॉ उपमेय और उपमान के सामान्य धर्मों का वास्तविक रूप से निश्चय न हो सके वहां संशयोपमा जबकि उपमेय के संशय को निश्चित होने को निश्चयोपमा अलंङ्कार कहते है।

उभयोर्धमिणो स्तथ्यानिष्च यात्संषयोपमा ।
उपमेयस्य संषय्य निष्चयान्निष्चयोपमा।।[4]

(ढ) **वाक्यार्थोपमा अलंङ्कार** – जहॉ उपमेय वाक्यार्थ की उपमान वाक्यार्थ के साथ तुलना की जाये वहां वाक्यार्थोपमा अलंङ्कार होता है।

---

(1) अग्निपुराण 344/15
(2) अग्निपुराण 344/16
(3) अकग्नपुराण 344/17
(4) अग्निपुराण 344/18

(ण) **असाधारणी उपमा** – जहॉ पर उपमेय को उपमान बना दिया जाये और उसमें चमत्कारातिशय हो वहां असाधारणीउपमा होती है।

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थोपमा स्यादुपमानतः।

आत्मोपमानादुपमा साधारण्यतिषायिनी।।[1]

(त) **अन्योपमा अलंङ्कार** – जहॉ पर उपमेय किसी अन्य का (उपमान से विपरीत) दिखाया या वर्णित किया जाये वहॉ पर अन्योपमा अलंङ्कार होता है।

उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता।

यद्युन्तरोन्तरं यति तदाऽसौ गमनोपमा।।[2]

(थ) **गगनोपमा अलंङ्कार** – यदि उपमा द्वारा उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन हो तो उसे गगनोपमा अलंङ्कार कहा जाता है।

पुनः उपमा के पांच भेदो का वर्णन किया जाता है–

(1) प्रशंसा (2) निन्दा (3) कल्पिता (4) सदृशी (5) असदृशी

प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा।

किंचिंच्चासदृशी ज्ञेया उपमा पच्धापुनः।।[3]

उपर्युक्त उपमा के भेदों तथा उपभेदों के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि जितने भेद अग्निपुराण में किये गये हैं, उतने भेद उपभेद अन्य संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं।

---

(1) अग्निपुराण 344 / 19

(2) अग्निपुराण 344 / 20

(3) अग्निपुराण 344 / 21

रूपक अलंङ्कार

जो उपमान तथा उपमेय का अभेदारोप (अरोपित या कल्पित) अभेद है, वह रूपक अलंङ्कार कहलाता है।

''तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।।''[1]

अर्थात् जिन उपमान तथा उपमेय का भेद (वैधर्म्य) प्रकट अपह्वयुत है, उसमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप करना रूपक है। भाव यह है कि भिन्न–भिन्न प्रकट होने वाले उपमान तथा उपमेय में अभेद का आरोप ही रूपक है– **''रूपयति एकतां नयतीति रूपकम्''**। यह अभेदारोप अत्यन्त साम्य के कारण होता है जैसे–मुखंचन्द्रः या मुखचन्द्र में मुख और चन्द्र के भेद को नहीं छिपाया गया तथा दोनों के अभेद की कल्पना की गई है। रूपक के आवश्यक अंङ्ग हैं –

(1) उपमान और उपमेय के भेद की स्पष्ट प्रतीति

(2) दोनों में अत्यन्त साम्य के निमित्त से अभेद की कल्पना

रूपक के तीन प्रकार है – (क) साङ्गरूपक (ख) निरङ्गरूपक और (ग) परम्परित। साङ्गरूपक के दो भेद है –

(1) समस्तवस्तुविषयक (2) एकदेशविवर्ती

निरङ्गरूपक के भी दो भेद हैं– शुद्व और मालारूपक। पारम्परित के श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट रूप से प्रथमतः दो भेद हैं। फिर इनमें से प्रत्येक के शुद्व और मालारूप के दो–दो भेद होकर चार भेद हो जाते हैं। इस रूपक के आठ प्रकार हैं।

(1) समस्तवस्तु विषय– जब (समस्त) आरोप्यमाण वस्तुएॅ शब्दोयात्त (श्रौताः=शब्दपतिपाद्याः) होते है तो समस्त वस्तु साङ्गरूपक होता है।

''समस्तवस्तुविषयं श्रोता आरोपिता यदा।''[2]

---

(1) काव्यप्रकाश 10 / 139

(2) काव्यप्रकाश 10 / 140

जब आरोप के विषय अर्थात् उपमेय के समान आरोप्यमान अर्थात् उपमान शब्द प्रतिपाद्य होते हैं (आर्थ नही) तब समस्त (आरोप्यमाण) वस्तुएँ जिसका विषय है ऐसा यह समस्त वस्तु विषयक (साङ्ग) रूपक होता है । सूत्र में आरोपिताः इस शब्द में बहुवचन विवचित नहीं है। अतः आरोप्यमाण वस्तुद्वय होने पर भी यह रूपक होता है। उदाहरण–

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरण धवलाविभ्रति तारकास्थी ।
न्यन्तर्द्वानव्यसन रसिका रात्रिकापालिकीयम्।।
द्वीपाद् दीपं भ्रमति दघति चन्द्रमुद्राकपाले।
न्यस्त सिद्धाज्नपरिमल लांछ्नस्यच्छलेन।।[1]

जो चन्द्रिका रूपी भस्म के लेपन (छुरण) के शुभ्र हैं, तारे रूपी अस्थियों को धारण करती है, अर्न्तधान की क्रीडा (व्यसन) में तत्पर है, ऐसी यह रात्रिरूपी कापालिकी (योगिनी) चन्द्ररूपी मुद्राकपाल (दीक्षाकाल में गृहीत कपाल) में कलंङ्ग के व्याज से रखे सिद्धाज्न के चूर्ण (परिमल) को लिये हुए एक द्वीप से दूसरे द्वीप को भ्रमण कर रही है ।

(2) **"श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेक देशविवर्ति तत्।।"**[2]

(एकदेशविवर्ती) जिस रूपक में वे (आरोप्यमाण अर्थात् उपमेय शब्द प्रतिपाद्य (श्रौत) तथा कुछ अर्थ गम्य (आर्थ) होते हैं, वह एकदेशविवर्ती (साङ्गरूपक) है।

अर्थात् जहां कुछ उपमान शब्द द्वारा गृहीत तथा कुछ अर्थ सामर्थ्य के द्वारा जानने योग्य (अवसेयाः) होते हैं, वह एकदेश में स्पष्ट रूप से (स्फुटतया) वर्तमान होने के कारण एकदेशवर्ती (साङ्गरूपक) होता हैं जैसे कि –

यस्यरणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम्।
रससम्मुख्यापि सहसा परांङ्मुखी भवति रिपुसेना।।[3]

---

(1) काव्यप्रकाश दशमउल्लास / 421

(2) काव्यप्रकाश 10 / 141

(3) काव्यप्रकाश 10 / 422

जिस राजा के रण रूपी अन्तःपुर में खड्ग लता (और नायिका) को हांथ में ग्रहण करते ही रसाविष्ट (बीररसा विष्टा अथवा श्रृंगार रसाविष्टा) भी शत्रु सेना तथा (प्रति नायिका) सहसा पराङ्गमुखी हो जाती है (युद्ध से या प्रिय संङ्गम से निवृत हो जाती है)।

आचार्य मम्मट ने इसका पृथक निरूपण नहीं किया है क्योंकि यह विशेष चमत्कार नहीं होता। व्याख्याकारों का विचार है कि मम्मट के मतानुसार परिणाम अलंङ्कार का भी रूपक में ही समावेश हो जाता है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार रूपक के भेद–प्रभेद ये हैं–

रूपक

- (1) सांङ्ग
  - (1) समस्त
    - .वस्तुविषय
  - (2) एकदेश
    - विवर्ती
- (2) निरंङ्ग
  - (1) शुद्ध
  - (2) माला
- (3) परम्परित
  - (1) शिलष्ट
    - (1)शुद्ध
    - (2)माला
  - (2) अशिलष्ट
    - (1)शुद्ध
    - (2)माला

अग्निपुराण में रूपक अलंङ्कार का वर्णन संक्षिप्त रूप में दिया गया है। जो इस प्रकार है।–

जहॉ गुणों की समता को देखकर उपमान से ही उपमेय का निरूपण कराया जाता है वहॉ रूपक अलंङ्कार होता है अथवा जहां उपमेय और उपमान में सादृश्य सम्बधी अभेद कहा जाता है उसे रूपक कहते हैं।

उपमानेन यन्तत्वयुपमेयस्य रुप्यते।
गुणानां समता दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।।[1]

सहोक्ति अलंङ्कार

जहां उपमेय और उपमान के साधारण धर्म का सह भाव से (सह, साथ, संगति द्वारा) कथन या उल्लेख हो वहां सहोक्ति अलंङ्कार होता है।

उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा।
सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणाम्।।[2]

काव्य प्रकाश में इसका वर्णन विस्तृत रूप से दिया है– सहोक्ति अलंङ्कार वह है जहां एक पद सह (साथ) अर्थ के सामर्थ्य से दो अर्थों का वाचक होता है –

''सा सहोक्तिः सहार्थस्य वलादेकं द्विवाचकम्।।''[3]

अर्थात् जहॉ एक अर्थ का वाचक पद "सह" शब्द के अर्थ सामर्थ्य से दोनों अर्थों का बोधक होता है वह सहोक्ति है । जैसे –(कर्पूमंजरी में नायिका विरहवर्णन) हे सुन्दर, तुम्हारे विरह में व्याकुल उस (नायिका) की सांस दिन–रात के साथ दण्डाकार लम्बी हो रही है, उसकी अश्रु–धारा रत्न कंङ्कणों के साथ गिर पडती है और देहलता के साथ–साथ उसके जीवन की आशा दुर्बल हो रही है।

सह दिवसनिषाभिर्दीर्घाः: श्वासदण्डाः।
सह मणिवलयैर्वाष्प धारा गलन्ति।।
तव सुभग वियोगे तस्या उद्विग्नायाः।
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताषा।।[4]

---

(1) अग्निपुराण 344/22 (2) अग्निपुराण 344/23
(3) काव्यप्रकाश 10/170 (4) काव्यप्रकाश 10/495

अर्थान्तरन्यास अलंङ्कार

जहॉ पर उत्तर (वाक्य) से सादृश्य दिखाया जाता है वहां अर्थान्तन्यास अलंङ्कार होता है। इसका भी वर्णन अग्निपुराण ने संक्षिप्त रूप में दिया है।

भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनोन्तरेण सः।

अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येत रस्य च।।[1]

काव्यप्रकाश में इसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यन्तुसोऽर्थान्तरन्यासःसाधर्म्येणेतरेणवा।।[2]

अर्थान्तरन्यास वह अलंङ्कार है जहॉ साधर्म्य या वैधर्म्य (तदितरेणवा) के विचार से सामान्य या विशेष वस्तु का उससे भिन्न (विशेष या सामान्य) के द्वारा समर्थन किया जाता है ।

अर्थात जो समानधर्मता अथवा विरूद्वधर्मता के विचार से सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष (वस्तु) का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंङ्कार होता है । अर्थान्तरन्यास अलंङ्कार चार प्रकार का होता है–

(1) साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन

(2) साधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन

(3) वैधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन

(4) वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन

---

(1) अग्निपुराण 344/24

(2) काव्यप्रकाश 10/65

निजदोशा वृत्तमन सामति सुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पिन्तोपहतः शशिशुभ्रं शंङ्खमपि पीतम्।।[1]

उदाहरण— अपने दोषों से जिन (व्यक्तियों) का मन व्याप्त (आवृत) है उनको अति सुन्दर वस्तु भी विपरीत अर्थात् असुन्दर प्रतीत होती है। पित्त (कामला) रोग से पीड़ित व्यक्तियों को चन्द्रमा के सदृश श्वेतशंङ्ख भी पीला दिखाई पड़ता है।

उत्प्रेक्षा अलंङ्कार

अग्निपुराणकार ने उत्प्रेक्षा अलंङ्कार का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है— जहां पर अन्य रूप में प्रस्तुत वृत्ति को जब अन्य रूप में कहा जाता हैं तो वहां उत्प्रेक्षा अलंङ्कार होता है।

अन्यथामन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षा प्रचक्षते।
लोकसीमानिवृतस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम्।।[2]

काव्यप्रकाश में उत्प्रेक्षा का वर्णन अत्यन्त ही सहज और सुन्दर ढ़ंग से किया गया है और वह इस प्रकार का है—

''सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेनयत्।।''[3]

जो प्रकृत (वर्णनीय) वस्तु की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना करना वही उत्प्रेक्षा अलंङ्कार है।

समेन उपमानेन उदाहरणम्—

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निषाया।
मिन्दोरिन्दीवरदल द्वषा तस्य सौन्दर्यदर्पः।।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्रत्रकान्त्येति हर्षा।
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्यलक्ष्मीः।।[4]

---

(1) काव्यप्रकाश 10/478 (2) अग्निपुराण 344/25
(3) काव्यप्रकाश 10/137 (4) काव्यप्रकाश 10/416

समेन अर्थात् उपमान के साथ –

(क) **हेतूत्प्रेक्षा–** नायक की नायिका के प्रति उक्ति। हे सुन्दर शरीर वाली (प्रेयसि) मैं समझता हूॅ कि कमल की शोभा इस हर्ष से तुम्हारे चरणों में गिर गई है (लग्ना=सन्ता प्रणता) कि इस कमल सदृश नेत्रों वाली सुन्दरी ने अपने मुख की कान्ति से उस चन्द्रमा मे सौन्दर्य दर्प को बलपूर्वक निवारण कर दिया जो मेरा (कमलशोभा का) सहज शत्रु है तथा रात्रि में मेरे विकास (उन्मेष) को सहन नहीं कर सकता है।

(ख) **क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा–** **लिम्बतीव तमोङ्गानि वर्षतीवज्नं नभः।**

असत्पुरुषसेवेव द्वष्टि विंकलतां गता।।[1]

''मानो अन्धकार अंङ्गों को लिप्त (लीप) कर रहा है, आकाश काजल सा बरसा रहा है इससे दुर्जन की सेवा के समान दृष्टि व्यर्थ हो गई है।''

आचार्य मम्मट ने उत्प्रेक्षा के भेद प्रभेदों की ओर ध्यान नहीं दिया। आगे विश्वनाथ आदि ने इसके अनेक भेद प्रभेद दिखलाये हैं। उनमे तीन मुख्य भेद है–

(1) स्वरुपोत्प्रेक्षा

(2) हेतूत्प्रेक्षा

(3) फलोत्प्रेक्षा

यहां लिम्वतीष आदि द्वितीय उदाहरण अन्यों के मत का निराकरण करने के लिये दिया गया है। क्योंकि कुछ आलंङ्कारिका इस स्थल में उपमालंङ्कार मानते है। किन्तु यहां उत्प्रेक्षा ही युक्ति युक्त है।

---

(1) काव्यप्रकाश 10/417

अतिशय अलंङ्कार

जहॉ किसी पदार्थ का लोकसीमातिशयी वर्णन हो, वहॉ अतिशय अलंङ्कार होता है । इसके दो भेद हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) सम्भव

(2 असम्भव

भवेदतिशयो नाम संभवासंभवाद्द्विधा।

गुणजाति क्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्षनम्।।[1]

विशेषोक्ति अलंङ्कार

अग्निदेव ने विशेषोक्ति का भी वर्णन संक्षिप्त रूप से किया है जो इस प्रकार है। जहॉ गुण, जाति, क्रिया आदि में विकलता (परस्पर विरोध) दिखाया जाता है वहॉ विशेषोक्ति अलंङ्कार होता है।

विशेषदर्षनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते।

प्रसिद्ध हेतु व्यावृत्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।।[2]

काव्यप्रकाश में विस्तृत विवेचना है–

''विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।।''[3]

विशेषोक्ति वह (अलंङ्कार) है जहां (प्रसिद्ध) कारणों के मिलने पर (अखण्डेषु=मिलितेषु) भी कार्य (उत्पत्ति) का कथन नहीं किया जाता।

अर्थात कारणो के एकत्र होने पर भी कार्य (के होने) का कथन न करना विशेषोक्ति है । यह तीन प्रकार की है–

(1) अनुक्तनिमिन्ता

(2) उक्तनिमिन्ता

(3) अचिन्त्यनिमिन्ता

---

(1) अग्निपुराण 344/26

(2) अग्निपुराण 344/27

(3) काव्यप्रकाश 10/163

उदाहरण– **निद्रानिवृन्ताकुदिते द्युरत्ने सखीलने द्वारपदं पराप्ते।**

श्लथीकृताष्लेशरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा।।[1]

निद्रा की निवृत्ति हो जाने पर, सूर्य उदित होने पर सखियों के द्वार–स्थान पर आ जाने पर प्रेमी (भुजंङ्ग=उपपतिः) के द्वारा आलिंङ्गन के आनन्द को शिथिल कर देने पर भी वह अङ्गना आलिंङ्गन से नही हटी।

कारिका में अखण्ड शब्द का अभिप्राय है – ''**मिलित या पूर्ण कारणेषु**'' में बहुवचन विवक्षित नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रसिद्ध कारण या कारणो के होने पर भी कार्य के न होने का कथन विशेषोक्ति है।

विभावना अलंङ्कार

जहॉ किसी प्रसिद्ध कारण को हटाकर उसके स्थान पर कारणान्तर की स्थापना की जाती है, और उसे (कारणान्तर को) स्वाभाविकता प्रदान की जाती है वहां विभावना अलंङ्कार होता है।

यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना।

संगतीकरणं युक्त्वा यदसंगच्छमानयोः।।[2]

काव्यप्रकाशकार ने यह अलंङ्कार इस प्रकार प्रस्तुत किए है–

विभावना अलंङ्कार वह है, जहॉ कारण (क्रिया=कारण क्रियतेऽनयाइति) का प्रतिबोध होने पर भी (उसके कार्यरूप) फल (उत्पत्ति) का कथन (व्यक्तिः वचन, प्रकाशन) किया जाता है।

''**क्रियायाः प्रतिषेधऽपि फलव्यक्ति र्विभावना।।**''[3]

अर्थात् हेतुरूप क्रिया का निषेध होने पर भी उसके फल अर्थात् कार्य का प्रकाशन करना विभावना है। जैसे –

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधन्त रुजमलिकुलैर दष्टाऽपि।

परिवर्तते स्म नलिनील हरी भिरणोलिताऽप्य धूर्णत सा।।[4]

(1) काव्यप्रकाश 10/474 (2) अग्निपुराण 344/28

(3) काव्यप्रकाश 10/162 (4) काव्यप्रकाश 10/166

पुष्पित लताओ से ताडित न की हुई भी वह (नायिका विरह के कारण) वेदना का अनुभव करती थी, भ्रमरगणों से न काटी गई भी वह लोट पोट होती थी (परिवर्त्तते=परावृत्यवर्तते)। कमलिनी युक्त लहरों से चलित न की गई भी वह चक्कर खाती थी।

जहॉ प्रसिद्ध कारण के आभाव में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है वहां विभावना अलंङ्कार होता है। उपर्युक्त सूत्र में क्रिया शब्द का अभिप्राय कारण है।

यहां विभावना के दो भेदों का निरूपण नही किया गया। साहित्यदर्पण के अनुसार इसके दो भेद हैं –

(1) उक्तिनिमिता

(2) अनुनिमिता

विरोध अलंङ्कार

विरोध वह अलंङ्कार है, जहॉ विरोध न होने पर भी (दो वस्तुओं का) विरूद्धों के समान वर्णन किया जाता है।

''विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यदृचः।।''[1]

अर्थात् वास्तव में (वस्तुवृत्तेन=यथार्थ में) विरोध न होने पर भी (वस्तुओं का) विरुद्धों के समान वर्णन होता है वह विरोध (विरोधाभास) है।

जातिष्चतुर्भिर्जात्या धैर्विरुद्धास्याद् गुणस्त्रिभिः।

क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दष।।[2]

---

(1) काव्यप्रकाश 10/166

(2) काव्यप्रकाश 10/167

ये विरोध दस प्रकार के हैं–

(1–4) जाति का जाति आदि (गुण, क्रिया, द्रव्य) चारों से विरुद्ध होना (विरोध),

(5–7) गुण का तीन (गुण, क्रिया, द्रव्य) के साथ विरोध,

(7–9) क्रिया का दो (क्रिया, द्रव्य) के साथ विरोध तथा,

(10) द्रव्य का (एक) द्रव्य के साथ ही विरोध।

जहॉ वस्तुतः विरोध न होने पर भी आपाततः विरोध की प्रतीति होती है वह अलंङ्कार विरोधाभास है **''आभासते इति आभासः विरोधशचासौ आभासश्च इति''**, जहां प्रकृत वाच्यार्य में विरोध प्रतीत होता है वहीं विरोधालंङ्कार हुआ करता है, किन्तु जहॉ व्यंङ्ग्य अर्थों में विरोध होता है वहां (वाच्य) विरोधालंङ्कार नहीं होता है। अपितु विरोधालंङ्कार ध्वनि होती है, जैसे– ''तिग्मरुचिर प्रतापः'' विरोध की वही स्पष्ट प्रतीति होती है जहॉ विरोधसूचक ''अपि'' शब्द का प्रयोग होता है।

उदाहरण–

अभिनव नलिनी किसलय मृणालवलयादि दवदहनराशिः।
सुभग कुरंङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्व द्वियोगपविपाते।।[1]

जाति का जाति के साथ विरोध– हे सुन्दर दैववशात् इस मृगनयनी पर तुम्हारे वियोग का वज्रपात हो जाने से (इसके लिये) नूतन कमलिनी के किसलय तथा मृणाल के कंङ्कण आदि भी दावा–नल के पुरुष हो गये है।

अग्निपुराण में अग्निदेव ने विरोध अलंङ्कार को इस प्रकार प्रस्तुत किया है। जहां परस्पर विरोधी वस्तुओं का विरोधात्मक रूप दिखाकर फिर युक्ति पूर्वक उनका संगत रूप दिखाया जावे वहां विरोध अलंङ्कार होता है। अर्थ के साधक को हेतु कहते है।

---

(1) काव्यप्रकाश 10 / 382

इसके दो भेद हैं– कारक और ज्ञापक। कारक नामक हेतु कार्य होने पश्चात् उपस्थित किया जाता है और ज्ञापक नामक हेतु कार्य जन्म से पूर्व उपस्थित होता है। उनका कार्य कारण भाव से अथवा स्वाभाविक नियम से पूर्व कारक तथा शेष कारक नाम विख्यात हैं। अविनाभाव के दिखाने से ज्ञापक हेतु का भेद अविनाभाव नियम ही है। अर्थात् जिस प्रकार नदी का पूरा (बाढ़) वर्षा का ज्ञापक होता है वैसे ही यहॉ अविनाभाव नियम है।

विरोधपूर्वकत्वेन तद्दिरोध इति स्मृतम्।
सिसा(षा) धयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः।।
कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युजायते।
प्रवर्वते कारकाख्यः प्राक्पष्चात्कार्य जन्मनः।।
पूर्वशेषे इति ख्यातस्तयोरेव विशेषयोः।
कार्यकारण भावाद्वा स्वाभावाद्वा नियामकात्।।
अविनाभावनियमो ह्यविना भावदर्शनात्।
ज्ञापकाख्यस्य भेदोऽस्थि नदीपूराद्दिर्शनम्।।[1]

''विरूद्धाभासत्वं विरोधः।।''

(वास्तविक विरोध न रहने पर भी) विरुद्ध मालूम पडना विरुद्धाभासत्व है तथा वही विरोध अलङ्कार है। जैसे–

सा वाला वयम प्रगल्भ मनसः सा स्त्री वयं कातराः।
सा पीनोन्नतिमत्पयोधर युगं धन्तें सखेदा वयम्।।
साऽऽक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं नषक्तावयं।
वो शैरन्य जनाश्रितैपटवो जाताः स्म इत्यद् भुतम्।।[2]

---

(1) अग्निपुराण 344/29–32

(2) काव्यालङ्कारसूत्राणि 3/12

वह वाला है, परन्तु हम प्रगल्भताहीन है, वह स्त्री है, परन्तु कायर हम है, ऊँचे दो स्तनों को वह धारण कर रही है, परन्तु हम खिन्न हो रहे हैं, वोझिल जंङ्घाओं से वह आक्रान्त है, परन्तु चलने में हम असमर्थ हैं, दूसरे व्यक्ति अर्थात् नायिका के आश्रित दोषों से हम अशक्त हैं, यह आश्चर्य है (इन दोनों उदाहरण में विरोध का आभास स्पष्ट है, अतएव विरोधालंङ्कार है)।

उपर्युक्त उदाहरण का वर्णन काव्यालंङ्कार सूत्राणि से किया है।

शब्दार्थालंङ्कार

प्रस्तुत आलोच्यग्रन्थ में अग्निपुराण में अग्निदेव ने शब्दार्थालंङ्कार इस प्रकार किया है। शब्दार्थालंङ्कार (उभयालंङ्कार) शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से उस प्रकार अलंकृत करते हैं। जिस प्रकार स्त्रियों के वक्ष का हार उरोजों के साथ–साथ उनके ग्रीव–सौन्दर्य को भी बढाता है। शब्दार्थालंङ्कार के छः भेद स्वीकार किये गये हैं–

(1) प्रशस्ति.	(2) कान्ति.	(3) औचित्य.
(4) यावदर्धता	(5) संक्षेप.	(6) अभिव्यक्ति

शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम्।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रिया।।
प्रषस्ति कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता।
अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं शङ्भेदास्तस्य जाग्रति।।[1]

प्रशस्ति इत्यदि छः भेदो का कथन एवं उनके लक्षणों का निरूपण –

(1) **प्रशस्ति अलंङ्कार** – दूसरों के हृदय को द्रवित करने वाले कर्म को प्रशस्ति कहते हैं। प्रशस्ति कथन की शैली दो प्रकार की है– (1) प्रेमोक्ति तथा (2) स्तुति। प्रेमोक्ति और स्तुति यों तो समानार्थक शब्द है, पर इनमें थोडा सा अन्तर अवश्य है। प्रिय के सम्बन्ध में सामान्य कथन को प्रेमोक्ति कहते है और उनके गुण कीर्तन को स्तुति कहते हैं।

---

(1) अग्निपुराण 345 / 1–2

प्रशस्तिः परवन्मर्मद्रवीकरण कर्मणः।

वायोयुक्तिर्द्विधा सा च प्रेमोक्ति स्तुति भेदतः।।[1]

(2) **कान्ति अलंङ्कार** — सब प्रकार से रुचिकर शब्द एवं अर्थ की संगति को कान्ति अलंङ्कार कहते हैं।

प्रमोक्तिस्तुतिपर्यायौ प्रियोक्तिगुण कीर्तने।

कान्तिः सर्वमतो रुच्यवाचक संगति।।[2]

(3) **औचित्य अलंङ्कार**— जहॉ पर विषयानुकूल रीति वृत्ति और रस का समावेश दिखाया जाये वहां औचित्य अलंङ्कार होता है। इसके दो भेद हैं —

(1) ऊर्जस्वी

(2) मृदुसंदर्भ

यथा वस्तु तथा रीतिर्यथा वृत्तिस्तथा रसः।

ऊर्जस्विमृदुसंदर्भा दौचित्य मुपजायते।।[3]

(4) **यावदर्थता अलंङ्कार**— जहॉ शब्द और वर्ण्य वस्तु, दोनो को न्यून और न अधिक रूप में प्रस्तुत किया जाये, वहॉ यावदर्थता अलंङ्कार होता है।

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि।

तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्।।[4]

(5) **संक्षेप अलंङ्कार** — जहॉ अल्प शब्दों से अधिक अर्थ की प्रतीति हो वहॉ संक्षेप अलंङ्कार होता है।

संक्षेपो वाचकैश्ल्यैर्वहोरर्थस्य संग्रहः।

अन्यूनाधिकता शब्दवस्तुनोर्यावदर्थता।।[5]

---

(1) अग्निपुराण 345/3

(2) अग्निपुराण 345/5

(3) अग्निपुराण 345/4

(4) अग्निपुराण 345/7

(5) अग्निपुराण 345/6

(6) **अभिव्यक्ति अलंङ्कार** — भावप्रकटी करण का नाम अभिव्यक्ति है । इसके दो भेद हैं —

(1) श्रुति (शब्दस्वार्थ समर्पण) तथा (2) आक्षेप

श्रुति (शब्दस्वार्थ समर्पण) के दो भेद होते हैं–

(1) नैमिन्तिकी तथा (2) परिभाषिकी

परिभाषिकी संङ्केत को कहते है। सांङ्केतिक अर्थ प्रकट करने वाली अभिव्यक्ति परिभाषिकी कहलाती है।

नैमित्तिकी के पुनः दो भेद हैं —

(1) मुख्या तथा (2) औपचारिकी।

भवेन्नैमित्तिकी परिभाषिको द्विविधैव सा।
संकेतः परिभाषेति ततः स्यात्पारिभाषिकी।।[1]

औपचारिकी अभिव्यक्ति वहॉ मानी गई है जहॉ किसी कारण विशेष से अभिधेय (मुख्यार्थ) का स्खलन (बाध) हो जाये तथा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के वाचक शब्द का ग्रहण हो ।

इस औपचारिकी के दो भेद है —

(1) लाक्षणिकी तथा (2) गौणी

लक्षणा की विशेषताओं के योग के कारण औपचारिकी अभिव्यक्ति वहॉ मानी गई है, जहॉ किसी कारण विशेष से अभिधेय (मुख्य) का स्खलन अर्थात् बाध हो जाये, तथा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के वाचक शब्द का ग्रहण हो।

---

(1) अग्निपुराण 345/8

मुख्यौपाचरिकी चेति सा च द्विधा द्विधा।
साभिधेयस्खलद् वृत्तिर मुख्यार्थस्य वाचकः।।
यथा शब्दो निमित्तेन के नचित्सौ पचारिकी ।
स च लाक्षणिकी गौणी लक्षण गुणयोगतः।।
अभिधेया विनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
अभिधेयेन सम्बन्धात्साभीप्यात्समवायतः।।
वैपरी त्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पंच्धा मता।
गौणी गुणानामनन्त्यादनत्ता तद्विवक्षया।।[1]

समाधि अलंङ्कार

जहॉ लोक मर्यादा के आग्रह से एक वस्तु का धर्म, दूसरी वस्तु मे सम्यक प्रकार से वर्णित किया जाता है, वहॉ समाधि अलंङ्कार कहा गया है।

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः।।[2]

उपर्युक्त वर्णन अग्निपुराण में अग्निदेव ने इस प्रकार किया है और काव्यप्रकाशकार ने समाधि अलंङ्कार का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है– समाधि वह अलड्कार है, जहॉ (इष्ट कारण के अतिरिक्त) अन्य कारणों के योग से किसी कार्य के सौन्दर्य (सुगमतापूर्वक किये जाने) का वर्णन होता है। अर्थात् जहॉ आरम्भ किया गया कार्य (नियतसाधन के अतिरिक्त) अन्य साधनों की सहायता से युक्त कर्ता के द्वारा अनायास ही भली भॉति कर लिया जाता है वहॉ समाधि अलंङ्कार होता है।

उदाहरण–

''इस (नायिका) के मान का निराकरण करने के लिये मै इसके चरणों में गिरने वाला ही था कि मेरी सहायता के लिये सौभाग्य से मेघगर्जना होने लगी।''

---

(1) अग्निपुराण 345/9–12

(2) अग्निपुराण 345/13

मानमस्या निराकन्तु पादयोमें पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्टयेदुमुदीर्ण घनर्गीजतम्।।[1]

आक्षेप अलंङ्कार

आक्षेप अलंङ्कार वह है जो (जहॉ) विशेष (वक्ष्यमाण विषय में कथन की अशक्यता या अति प्रसिद्धि) कि कथन की इच्छा से वक्ष्यमाण (प्रकरण प्राप्त कहने योग्य या न कहने योग्य) बात का निषेध किया जाता है।

आक्षेप दो प्रकार का है–

(1) वक्ष्यमाण विषयक तथा (2) उक्तविषयक

निषेधो वक्तुमिष्टास्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्त विषयः स आक्षेपो द्विधामतः।।[2]

कहने के लिए अभीष्ट (वस्तुमिष्ट=विवक्षित) अर्थात् प्रकरण प्राप्त होने के कारण जिसकी उपेक्षा न की जा सके उस वस्तु के वर्णन की अशक्यता या अतिप्रसिद्धि रूप विशेषता का बोध कराने के लिये जो निषेध सा (आपाततः प्रतीयमान निषेध) अर्थात् (निषेधाभास) किया जाता है, वह वक्ष्यमाण विषयक और उक्त विषयक दो प्रकार का आक्षेप अलंङ्कार है। क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं –

ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप भणामि अलमथवा।
अविचारित कार्यारम्भ कारिणी म्रियतां न भणिष्यामि।।[3]

नायक के प्रति नायिका की सखी की उक्ति) ''अरे निर्दय आओ मैं किसी (नायिका) के लिए तुमसे कुछ कहती हूॅ। अथवा रहने दो बिना विचारे कार्य आरम्भ करने वाली वह मर जाये किन्तु मै कुछ न कहूंगी''।

---

(1) काव्यप्रकाश दशमउल्लास / 382

(2) काव्यप्रकाश दशमउल्लास / 382

(3) काव्यप्रकाश दशमउल्लास / 382

ज्योत्स्ना मौक्तिदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः।
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः।।
अन्तर्मान समास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर।
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्ते नन ब्रूम हे।।[1]

(नायक के प्रति दूती की उक्ति) चन्द्रिका, मुक्तामाला, चन्दनरस, चन्द्रकान्तमणि का जल, कर्पूर केला, मृणाल के कंङ्कण तथा कमलिनी–किसलय आः। (क्रोधार्थक अव्यय) ये सब भी उस (नायिका) के हृदय में तेरे स्थित होने से (प्रभवता) चिनगारी के समूह (अंङ्गारों) के व्यापार के लिये (दाहोत्पादन हेतु) हो गये हैं। ओह ! (हन्त विषादार्थक अव्यय) इसके कथन से क्या प्रयोजन? हम कुछ न कहेंगी।

अग्निपुराण में इस प्रकार कहा गया है– जहॉ कर्णेन्द्रिय द्वारा अप्राप्य जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह आक्षेप का विषय है। इसे ध्वनि भी कहते हैं , क्योंकि इसकी प्रतीति ध्वनि (नामक काव्यांङ्ग) से होती है।

श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः।
स आक्षेपो ध्वनि स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।।[2]

जहॉ शाब्दिक अर्थ से भाव ग्रहण करके भी किसी विशेष बात को कहने की इच्छा से उसका प्रतिषेध सा किया जाता है वह आक्षेप अलंङ्कार है। अवर्णनीय विषय सामग्री का गुण कथन स्तुत अथवा स्तोत्र कहलाता है।

शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपार्जनम्।
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया।।
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः।
अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।।[3]

---

(1) काव्यप्रकाश 10/472

(2) अग्निपुराण 345/14

(3) अग्निपुराण 345/15–16

समासोक्ति अलंङ्कार

जहॉ विशेषणों की समानता के बल पर कोई अर्थ किसी अन्य पर भी घटने लगे, इस संक्षेप के कारण ऐसे स्थलों में उसे समासोक्ति अलंङ्कार कहते है।

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्त्समान विशेषणः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया वुधैः।।[1]

काव्यप्रकाश में समासोक्ति अलंङ्कार को इस प्रकार बताया गया है– श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा (भेदकैः) पर अर्थात् अप्रकृत अर्थ का बोधन समासोक्ति अलंङ्कार है।

परोक्तिर्भेद कैः ष्लिष्टैः समासोक्तिः।।[2]

प्रकरण–प्राप्त अर्थ के प्रगतिपादक वाक्य–द्वारा श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से न कि विशेष्यवाचक शब्दों के सामर्थ्य से भी जो अप्रस्तुत अर्थ का व्यंजन द्वारा बोध होता है (अभिधानम्=व्यंजनया बोधनम्) वह समास अर्थात् संक्षेप से दो अर्थो (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) का कथन करने के कारण समासोक्ति अलंङ्कार है।

उदाहरण – **लब्ध्वा तव वाहुस्पर्ष यस्याः स कोऽप्युल्लासः।**
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्जवला दुर्बला ननु सा।।[3]

समर पतित स्वामी के प्रति वीर पत्नी की उक्ति– हे! वीर तुम्हारे बाहु–स्पार्श को प्राप्त करके जिसको अनूठा (कोऽपि) आनन्द होता था, वह जयलक्ष्मी अब तुम्हारे विरह में उज्जवल नही रही, दुर्बल हो गई है।

---

(1) अग्निपुराण 345/17
(2) काव्यप्रकाश 10/148
(3) काव्यप्रकाश 10/435

अपह्नुति अलंङ्कार

अग्निपुराण में अग्निदेव ने अपह्नुति अलंङ्कार का विवेचन इस प्रकार किया है –

जहॉ किसी अर्थ (बात) को छिपाकर अन्य अर्थ की सूचना दी जाये वहॉ अपह्नुति अलंङ्कार होता है।

''अपह्नुतिरपह्नुत्य किचिदन्यार्थसूचनम्।।''[1]

काव्यप्रकाशकार ने इस अलंङ्कार का विवरण इस प्रकार किया है –

''प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नतिः।।''[2]

जहॉ प्रकृत अर्थात् वर्णनीय (उपमेय) का निषेध करके अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है वह अपह्नुति अलंङ्कार है। अर्थात् जो उपमेय को असत्य बतलाकर उपमान को सत्य रूप से स्थपित किया जाता है वह अपह्नुति अलंङ्कार है।

अपह्नुति दो प्रकार की होती है – (1) शाब्दी तथा (2) आर्थी

जहॉ शब्द द्वारा उपमेय की असत्यता कही जाती है वहॉ शाब्दी और जहॉ यह अर्थ से प्रतीयतान (अर्थलभ्य) होती है वहॉ आर्थी अपह्नुति है। आर्थी तो बहुत सी भंङ्गिमाओं के द्वारा होती है अर्थात् कही छलेन इत्यादि कपटार्थक, कही परिणामार्थक शब्दों का ग्रहण किया जाता है, जैसा कि प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट होगा –

आवाप्तः प्रागलभ्यं परिणतरुचः शैलतनये।
कलंङ्को नैवायं विलसति शषांङ्क स्य व पुशि।।
अ मुश्येय मन्ये विगलदमृतस्यन्द शिशिरे।
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि।।[3]

---

(1) अग्निपुराण 345/18

(2) काव्यप्रकाश 10/146

(शाब्दी) (पूर्णचन्द्र में कलंङ्क को देखकर शिव की पार्वती के प्रति उक्ति) हे पर्वतपुत्री पूर्ण कान्ति (वाले परिणतरुचः) शशांङ्क शरीर पर प्रकट होने वाला (प्रागल्भ्यम् अवाप्तः) यह कलंङ्क नहीं विराज मान है मै ऐसा समझता हूॅ कि इस चन्द्रमा के द्रवीभूत (विगलत्) अमृत स्रवण से शीतल वक्षः स्थल पर रति से परिश्रान्त रात्रिरूपी रमणी (चन्द्रपत्नी) गाढ (निद्रा में) सो रही हैं।

अवाप्त इत्यादि में उपमेयरूप कलंङ्क को असत्य बतलाकर उपमान भूत रात्रि की सत्यता स्थापित की गई है। यहॉ नैवायम् इस शब्द द्वारा उपमेय का निषेध किया गया है। अतएव शाब्दी अपह्नुति अलंङ्कार है।

आर्थी–

वतसखि, क्रियदेतत् पष्य वैरं स्मरस्य।
प्रियविरहकृषेऽस्मिन् रागिलोके तथाहि।।
उपवनसहकारोद्भासिभृंङ्गच्छलेन।
प्रतिविशिख मनेनोट्टङ्कितं कालकूटम्।।[1]

(किसी विरहिणी की सखी के प्रति उक्ति) हे सखि ! यह देखो कैसा खेद का विषय है (बत) कि प्रियविरह से क्षीण इस मुझ जैसे कामीजन पर कामदेव का कितना वैरभाव है कि इस (काम) ने उद्यानों की आम्र मंज्जरी (सहकार) पर शोभायमान (उद्भासिन्) भ्रमरों के बहाने से (अपने) प्रत्येक (पुष्परूपी) बाण (विशिख) पर उत्कट विष रख दिया है। यहॉ पर आर्थी अपह्नुति अलंङ्कार है।

यहॉ पर ये भ्रमरयुक्त सहकार पुष्प नहीं हैं। अपितु कालकूट (महाविष) सहित वाण है, (छल शब्द के प्रयोग से) यह प्रतीति होती है।

''वत सखि'' इत्यादि में उपमेय भूत भृंङ्गों का निषेध करके उपमान रूप कालकूट की स्थापना की गई है। यहा कपटार्थक 'छल' शब्द से उपमेय का निषेध अर्थलभ्य (आक्षिप्त) है अतएव आर्थी अपह्नुति अलंङ्कार है।

---

(1) काव्यप्रकाश 10/431

पर्यायोक्तं अलंङ्कार

अग्निदेव ने इस प्रकार कहा है कि इस प्रकार विशेष (शैली विशेष) में कही गयी बात को पर्यायोक्त कहते है। इन प्रकारों में से एक प्रकार की ध्वनि भी कहा गया है। अथवा इन उपर्युक्त अलंङ्कार को (श्रुतिके भेदों को) सामूहिक रूप से ध्वनि भी कह सकते है।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः।।[1]

काव्यप्रकाशकार ने पर्यायोक्त का विवरण विस्तृत रूप में किया है –

''पर्यायोक्त विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।।''[2]

पर्यायोक्त वह अलंङ्कार है जहॉ वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध के बिना ही (वाच्यर्थ का) प्रतिपादन (वचः) होता है।

जो वाच्य वाचक भाव से भिन्न अवगमन अर्थात् व्यंजना नामक व्यापार के द्वारा वाच्यर्थ का बोधन है, वह पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर से (वाच्यर्थ के) प्रतिपादन के कारण पर्यायोक्त अलंङ्कार कहलाता है। उदाहरण –

यं प्रेक्ष्य चिररुढाऽपि निवास प्रीतिरुज्झिता।

भदेनै रावणमुखे मानेन ह्रदये हरेः।।[3]

जिस (रावण या ह्यग्रीव) को देखकर मद ने ऐरावत के मुख में तथा अभिमान ने इन्द्र (हरि) के ह्रदय में चिरकाल से स्थित (पुष्ट) निवास की प्रीति को छोड दिया।

पर्याय का अर्थ है– इस प्रकार विविक्षित (वाच्य) अर्थ का प्रकारान्तर अर्थात् व्यंजनावृत्ति के द्वारा कथन की पर्यायोक्त अलंङ्कार है।

---

(1) अग्निपुराण 345 / 19

(2) काव्यप्रकाश 10 / 175

(3) काव्यप्रकाश 10 / 504

पर्यायोक्त अलंङ्कार का अलंङ्कारवादी तथा ध्वनिवादी सभी आचार्यों ने विस्तार से विवेचन किया है। इसके स्वरूप का दो प्रकार से निर्देष किया गया है एक तो विविक्षित अर्थ का वाच्यवाचकवृत्ति के अतिरिक्त व्यंजनावृत्ति (अवगमन) द्वारा प्रतिपादित – जैसे आचार्य उद्भट् की उक्ति है–

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभि धीयते।

वाच्यवाचक वृत्तिभ्यां शून्यनावगमात्माना।।[1]

दूसरे–गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से अभिधान जैसे – अलंङ्कार सर्वस्वकार का कथन है–

''गाम्यस्यापि भंङ्गयन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्।।''

यद्यपि तात्पर्यतः दोनों को एक भी कहा जा सकता है ।

पर्यायोक्त में कारण के साथ–साथ कार्य भी प्रस्तुत होता है। कारण का कथन न करके केवल कार्य का वर्णन तो इसलिये किया जाता है क्योंकि उसके वर्णन में ही विशेष चमत्कार हुआ करता है।

अन्त में उपर्युक्त अलंङ्कारों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निपुराण में जिस तरह से अलंङ्कारों को सुव्यवस्थित रूप से चित्रित किया गया है। उस तरह का वर्णन अन्य संस्कृत ग्रन्थों में दुर्लभ है। साथ ही अग्नि पुराणकार ने अलंङ्कारों के जितने भेद, उपभेद बताये है। उतने अन्यत्र ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु अग्निपुराण में अलंङ्कारों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं। परन्तु काव्यप्रकाशकार ने इनके भेद और उदाहरण दोनों को प्रस्तुत किये हैं। अतः हम यह कह सकते है कि आलोच्य ग्रन्थ अग्निपुराण में अलङ्कारों को बडे ही उत्कृष्ट रूप में वर्णित किया गया है।

---

(1) काव्यालंङ्कारसंग्रह 46

अध्याय

चतुर्थ

(काव्य के गुण)

शब्द गुण का कथन

जिस प्रकार असुन्दर शरीर वाली नारियों के लिए रत्नाहार भार बन जाता है। इसी प्रकार माधुर्यादि गुणों से रहित काव्य अलंकृत होने पर भी आह्लादक नहीं होता।

गुण लक्षण– भट्टोदभट्ट के मतानुसार– गुण रस के उत्कर्षाधायक हैं, रस के अत्यभिचारी और रस मात्र निष्ठधर्म है, अलंकारों से भिन्न हैं। वे रस के बिना भी रह सकते हैं। रस होने पर भी कभी उसके पोषक भी हो सकते हैं और कभी उसके पोषक न हों यह भी हो सकता है।

अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
व पुष्यललिते स्त्रीणांहारोमारायते परम्।।[1]
यः काव्ये महती छायाभनुगृहणात्य सौ गुणः।
संभवत्येवसामान्यो वैशेलिक इति द्विधा।।[2]
सर्वधारिणी भूतः सामान्यइतिमन्यते।
शब्दमर्थमुभौप्राप्तः सामान्यो भवति त्रिधा।।[3]

गुणों के भेद– गुणों के भेद के विषय में भी विभिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत हैं। वामन ने दस प्रकार के शब्दगुण तथा दस प्रकार के अर्थगुण माने हैं।

वामन के दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों का समालोचना मम्मट ने निम्न प्रकार से की है। जिससे कि माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का ही अस्तित्व प्रतिपादित होता है।

---

(1) अग्निपुराण 346/1
(2) अग्निपुराण 346/3
(3) अग्निपुराण 346/4

(क) **शब्दगुण**

(1) श्लेष	**वहूनामपिपदानामके पद्वद्भासमानात्मा ओज** (अनेक पदों का एक पद के समान प्रतीत होना)
(2) समाधि	**आरोहावरोहक्रमरूपः** (वाक्य में आरोह तथा अवरोह के क्रम को बनाए रखना)
(3) उदारता	**विकटत्वलक्षणा** (पदों की विकटता अर्थात् विच्छेद के कारण नृत्यप्रायता)
(4) प्रसाद	**ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा** (ओज से मिश्रित शिथिलता रूप)
(5) ओज	**बन्धवैकटयम्** (रचनाओं में बिकट पदों को बाधना)
(6) ()	
(7) अर्थव्यक्ति	**झटिति अर्थज्ञानम्** (तुरन्त अर्थ का बोध हो जाना)
(8) समता	**मार्गाभेदरूपा** (बैदर्भी आदि रीतियों में कहीं भेद न करना)
(9) सुकुमारता	**कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्निराकरणात् तन्निराकरणेन अपारूपम्** (कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोषों को बतलाने के कारण उनका निराकरण करके पारुष्य को दूर रखना)
(10) कान्ति	**औज्जवल्यरूपा** (उज्जवलता का रूप होना)

(ख) अर्थगुण

(1)ओजः	ओज पॅाच प्रकार का है।
	(1) **पदार्थे वाक्यरचनम्**
	(पद के लिए वाक्य की रचना करना)
	(2) **वाक्यार्थे च पदाभिधा**
	(वाक्य के किए पद की रचना करना)
	(3) **व्यास**
	(संक्षिप्त कथन को विस्तार से कहना)
	(4) **समास**
	(विस्तृत कथन को विस्तार से कहना)
	(5) **साभिप्रायत्वम्**
	(अभिप्राय से गर्भित वचनों को कहना)
(2) प्रसाद	**अर्थवैमल्यात्मा**
	(अधिकपदत्व का निराकरण करके अर्थ की निर्मलता)
(3) माधुर्य	**उक्तिवैचित्र्यरूपम्**
	(उक्ति की विचित्रता मात्र)
(4) सौकुमार्य	**अपारुष्यरूपम्**
	(कठोरता का होना)
(5) उदारता	**अग्रम्यत्वरूपा**
	(ग्राम्यत्व दोया का न होना)
(6) अर्धव्यक्ति	**वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा**
	(स्वाभावोक्ति अलंङ्कार के द्वारा वस्तु के स्वभाव का विशद वर्णन)

(7) कान्ति — **दीपरसत्वरूपा**
(रसध्वनि और गुणीभूत व्यंङ्ग में रस का प्रतीयमान होना)

(8) श्लेष — **क्रमकौटिल्यानुल्वणोपपत्तियोगरूपघटनात्मा**
(क्रम के उल्लंघन की अस्फुटता को युक्ति पूर्वक मिला देना)

(9) समता — **अवैषम्यरूपा**
(विषमता का होना)

(10) समाधि — **अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा इतिद्विविधः अर्थदृष्टिरूपः**
(अर्थ का दर्शन रूप जो कि दो प्रकार का है)–
(1) जो कवि की प्रतिभा से स्वयं उद्भूत हो प्राचीन कवि द्वारा न कहा गया हो।
(2) प्राचीन कवियों के भावों को अन्य प्रकार से– नये ढ़ंग से कहना।

''माधुर्यै जः प्रायादाख्यास्त्रयस्त्रे न पुनदर्ष।''

परन्तु मम्मट उन दस गुणों को न मानकर उनके स्थान पर केवल तीन गुण ही मानते हैं। जैसा कि निम्न सूत्र से स्पष्ट है।

आलोच्य ग्रन्थ अग्निपुराण में भी अग्निदेव ने भी गुणों के भेदों को बड़े ही उत्कृष्ट रूप में वर्णित किया है।

अग्निपुराण में गुणों के दो भेद बतलाए गए हैं। सामान्य और विशेष। सर्व प्रकार की रचना में प्राप्य गुण को सामान्य कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। शब्दगुंण, अर्थगुण तथा शब्दार्थगुण। जो काव्य के शरीर भूत शब्द के आश्रित रहता है उसे शब्दगुण कहते हैं। इसके सात भेद हैं–

(1) श्लेष (2) लालित्य (3) गाम्भीर्य (4) सुकुमारता
(5) उदारता (6) सत्य और (7) योगिकी।

शब्दों के सघन गुम्फन का नाम श्लेष है। जिस सन्दर्भ में (व्याकरण सम्बन्धी) गुण आदेशादि के द्वारा पद अक्षरों में सम्बद्ध अक्षरों में सन्धि नहीं की जाती वह लालित्य गुण माना जाता है। गाम्भीर्य गुण उसे कहते हैं। जिसमें शब्द तो उत्तान सुगम हो पर वर्ण्य विषय विशिष्ट चिन्ह से समन्वित हो। इन विशिष्टताओं से रहित रचना कोरा शब्द जाल है। सुकोमल वर्ण योजना से युक्त शब्दावली सुकुमार गुण माना गया है। श्लाघ्य विशेषणों से संवलित ओज संयुक्त पदो ंके प्रयोग में औदार्य गुण रहता है।

किसी भी प्रकार से प्रस्तुत किए गऐ विषय में यदि उत्कर्ष का निर्वाह किया गया हो तो ऐसे स्थल पर अर्थगुणों की संख्या अग्निपुराण में छः है।

(1) माधुर्य (2) संविधान (3) कोमलत्व

(4) उदारता (5) प्रौढ़ि (6) सामायिकत्व।

शब्दमाश्रयते काव्यंषरीरं य स तद्गुणः।
श्लेषो लालिव्यगाम्भीर्यै सौकुमार्यमुदारता।।[1]
सत्येवयोगिकी चेति गुणः शब्दस्यसप्तध।
सुष्लिष्ट संनिवेषत्वम् शब्दानांष्लेष उच्यते।।[2]
गुणादेषादिना पूर्व पदसंवद्धमक्षरम्।
यत्र संघीयते नैव तल्लालित्यमुदाहतम्।।[3]
विषिष्ट लक्षणोल्लेखलेख्य मुत्तानषब्दकम्।
गाम्भीर्य कथयच्यायस्ति देवान्येषु शब्दताम्।।[4]
ओजः समासभूयस्त्वमेतपद्यादिजीवितम्।
आव्रह्तस्तम्वपर्यन्तमोजसकेनपौरुषं।।[5]

---

(1) अग्निपुराण 346/5

(2) अग्निपुराण 346/6

(3) अग्निपुराण 346/7

(4) अग्निपुराण 346/7

(5) अग्निपुराण 346/10

गुण लक्षण

गुण के स्वरूप के विषय में अग्निपुराण में कहा गया है कि जो तत्व काव्य में महती छाया को उत्पन्न करते हैं वे गुण हैं। क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों की अवस्था के समान गम्भीरता का जहॉ आभाव हो और धैर्य का समावेश हो वहॉ माधुर्य गुण होता है। इष्टध्येय की सिद्धि के लिए जहॉ अमानवीय शक्ति का प्रयोग हो ऐसे सन्दर्भ में संविधान गुण होता है। जो सन्दर्भ क्लिष्टता आदि से रहित होता है। जहॉ प्रयासपूर्ण शब्द नियोजन का त्याग किया जाता है और जिसमें मृदुता का समावेश रहता है, वहॉ कोमलता गुण होता है। जिस रचना में प्रमुख रूप से स्थूल लक्ष्य को ही प्रकट करने में ही प्रवृत्ति रहती है और (मूल वस्तु) के आशय का सौष्ठव स्पष्ट रहता है। वहॉ उदारता गुण होता है। जहॉ अभीष्ठ अर्थ के विधातक तत्व के लिए प्रौढ़ तथा न्यायोचित युक्तियों का प्रयोग हो वहॉ पर प्रौढ़िगुण कहा जाता है।

जहॉ स्वतंत्र रूप से अथवा परतंत्र रूप से अर्थों की वाह्य और आन्तरिक योग से व्युत्पत्ति दिखायी जाती है। वहॉ सामायिकता गुण होता है।

शब्द और अर्थ के उपकार करने वाले गुणों को उभय गुण कहा गया है। इसके छः भेद किए गए हैं–

(1) प्रसाद (2) सौभाग्य (3) यथासंख्य
(4) प्रशस्ति (5) पाक (6) राग।

जहॉ अति प्रसिद्ध अर्थों वाली पदावली का प्रयोग हो वहॉ प्रसाद गुण रहता है। जिस उक्ति में किसी उत्कर्ष युक्त गुण का समावेश प्रतीत होता है, उसे सौभाग्य गुण कहते हैं। मनीषी इसे उदारता भी कहते हैं। सामान्य रूप से प्राप्त गुण को यथासंख्य कहा गया है। यथा समय वर्णनीय कठोर विषय का वर्णन जब कोमल शब्दों से किया जाता है तो वहॉ प्राशस्य गुण होता है। जहॉ वर्ण्य विषय की उत्तम परिणति हो वहॉ पाक गुण कहा जाता है।

पाक के चार भेद हैं–

(1) मृदीकपाक (2) पाक (3) नारिकेलपाक (4) अम्बुपाक।

उच्चमानस्य शब्देन येन केनापि वस्तुनः।
उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते।।[1]
क्रोपेर्ष्याकारगाम्भीर्य माधुर्य धैर्य गाहिता।
सविधान परिकरः स्यादपेक्षितसिद्धये।।[2]
यत्काठिन्यादिनिर्मुक्तसंनिवेश विशिष्टता।
तिरस्कृत्यैव मृदुताभाति कोमलतेतिसा।।[3]
लक्ष्यतेस्थूललक्षत्व प्रवृत्तेर्यत्र लक्षणम्।
गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्याति सौष्ठवम्।।[4]
अभिप्रेतं प्रतिहतं निर्वाहस्योपपादिकाः।
युक्तयो हेतुगर्भिण्यः प्रौढ़ाप्रौढ़िरुदाहृता।।[5]
स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य वा ह्यन्तः समयोगतः।
तत्रव्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिक तेति सा।।[6]

जहाँ आरम्भ में तथा अन्त में सरसता रहती है। वहीं मृदीकपाक होता है। काव्य परम्परा के अनुसार विशेष रूप से प्राप्त गुणराग हैं। इसमें स्वाभाविक कान्ति विद्यमान रहती है।

---

(1) अग्निपुराण 346/11
(2) अग्निपुराण 346/13
(3) अग्निपुराण 346/14
(4) अग्निपुराण 346/15
(5) अग्निपुराण 346/16
(6) अग्निपुराण 346/17

हरिद्र कौसुम्भ और नीलीराग में इसके तीन भेद हैं, जो गुण किसी विशेष रचना में व्यक्तिगत रूप से रहे हैं। वैशेषिक गुण कहलाते हैं।

शब्दार्थावुपकुवार्णो नाम्नोभयगुणः स्मृतः।
तस्यप्रसादः सौभाग्यंयथासंख्य प्रषस्यता।।[1]

पाकोराग इतिप्राज्ञैः 'ाट् प्रपंचविपचिंताः।
सुप्रसिद्धार्थवदता प्रसाद इति गीयते।।[2]

उत्कर्षवान्गुणः कश्चिघस्मिन्नुवते प्रतीयते।
तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।।[3]

यथासंख्यमनुद्देशः सामान्यमतिदिष्यते।
स्मये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः।।[4]

अदारुणेन शब्देन प्राषस्त्यमुपवर्णनम्।
उच्चैः परिणतिः काऽपि पाक इत्यभिधीयते।।[5]

मृदीका नारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुविधः।
आदान्ते च सौरस्यं मृदीकापाक एव सः।।[6]

काव्येच्छया विशेशेयः स राग इति गीयते।
अभ्यासोपहितः कान्तिं सहधामपि वर्तते।।[7]

हरिद्रश्चैव कौसुम्भो नीलीरागष्च स त्रिधा।
वैशेशिकः परिज्ञेयोयः स्वलक्षणगोचरः।।[8]

---

(1) अग्निपुराण 346/18
(2) अग्निपुराण 346/19
(3) अग्निपुराण 346/20
(4) अग्निपुराण 346/21
(5) अग्निपुराण 346/22
(6) अग्निपुराण 346/23
(7) अग्निपुराण 346/24
(8) अग्निपुराण 346/25

प्रसाद आदि गुणों का लक्षण

काव्यालङ्कार सूत्र के निर्माता वामन का मत है, गुण तथा अलङ्कार दोनों में भेद मानते हैं। उन्होंने अपने काव्यालङ्कार सूत्र के तृतीय अधिकरण के प्रथमाध्याय में इन दोनों के भेद का निरूपण करते हुए लिखा है।

''काव्यशोभायाः कर्तारौ धर्मा गुणाः।।''

ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओज प्रसादादयः।।

काव्य शोभा करने वाले उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं। अथवा अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा उत्पन्न करते हैं, वे गुण कहलाते हैं। वं गुण प्रसादादि ही होते हैं। यमक आदि शब्दालङ्कार और उपमा आदि अलङ्कार उस काव्य शोभा के उत्पादक न होने से गुण नहीं कहे जा सकते क्योकि ओजगुण प्रसाद गुणों के आभावों में केवल यमक अथवा उपमा आदि अलङ्कार काव्य के शोभाधायक नहीं हो सकते हैं और ओजगुण प्रसाद गुण तो यमक उपमा आदि के बिना भी काव्य के शोभाधायक हो सकते हैं। इसलिए वे ही गुण कहे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त मम्मट ने केवल तीन ही गुण माने हैं। अब आगे ग्रन्थकार ने अपने अभिमत तीन गुणों के लक्षण करके शेष गुणों का खण्डन करेंगे। आगे क्रमशः तीन गुणों के लक्षण कहते हैं–

सूत्र– **''आह्लादकत्वं माधुर्य श्रृंङ्गारे द्रुतिकारणम्।।''**

चित्त के द्रवीभाव का कारण और श्रृंङ्गार में रहने वाला जो आह्लादस्वरूपत्व है। वह माधुर्य नामक गुण कहलाता है।

ओज गुण दीप्ति को अर्थात् परमउज्जवलता को उत्पन्न करता है। इसका स्वरूप चित्त की अत्यधिक विस्तृति है। यह वीर वीभत्स और रौद्र रसों में विद्यमान रहता है।

सूत्र– **''गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः रूाब्दार्थयोर्मता।।''**

श्लोक– ''शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यात् प्रासादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।''

सूखे ईंधन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है वह सर्वत्र (सब रसों में) रहने वाला प्रसाद गुण कहलाता है और वह सारे रसों में और सारी रचनाओं में रहता है। यहॉ अग्नि और जल के दो उदाहरण देने का अभिप्राय यह है, कि जब वीर, रौद्र आदि उग्र रसों में प्रसाद गुण होता है, तब वह शुष्क ईंधन में अग्नि के समान चित्त में व्याप्त होता है, तब स्वच्छ वस्त्र में जल के समान चित्त में व्याप्त होता है। अतः आचार्यों द्वारा वर्ण आदि को गुणों की अभिव्यंजकता के हेतु के रूप में प्रस्तुत करना उपयुक्त ही है। आचार्यों का यह भी अभिमत है।

यद्यपि विशिष्ट वर्ण समास रचना का प्रयोग विशिष्ट गुणों की अभिव्यक्ति वाला होता है। ऐसा नियम है, तथापि यह नियम एकान्तिक नहीं है, वक्ता वाच्य और प्रबन्ध की दृष्टि से इनका प्रयोग अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है।

वक्तृवाच्य प्रबन्धाना मौचित्येन क्वचित् क्वचित्।
रचना वृत्ति वर्णानामन्यथात्वषीष्यते।।[1]
मूर्ध्नि वर्णान्त्यगाः स्पर्षा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्य वृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।[2]
योग आद्धा तृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिर्दर्ध्य गुम्फ उद्धत ओजसि।।[3]
श्रुतिमात्रेण शब्दाक येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।।[4]

---

(1) काव्यप्रकाश 8/77
(2) काव्यप्रकाश 8/74
(3) काव्यप्रकाश 8/75
(4) काव्यप्रकाश 8/76

क– **माधुर्य गुण–** ट ठ ड और ढ को छोंड़कर क से लेकर म पर्यन्त (क वर्ग, च वर्ग, त वर्ग तथा प वर्ग के सभी वर्ण) सभी स्पर्श वर्ण ह्रस्व स्वर से व्यवहित र और ण वर्ण माधुर्य गुण के व्यंजक हैं। समास रहित अथवा अल्प समास वाली मधुर रचनाएॅ भी माधुर्य की अभिव्यंजक हैं।

ख– **ओज गुण–** वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का अपने बाद से द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों के साथ संयोग (क, ग, च, ज, त, द, प, ब, का, ख, घ, छ, झ, थ, ध, फ, भ के साथ संयोग) वर्णों का र के साथ संयोग तुल्य वर्णों का योग ट वर्ग के पहले ,चार वर्ण (ट, ठ, ड, ढ) श और ष ये सभी वर्ण ओज गुण के अभिव्यंजक हैं। दीर्घ समास और उद्धत रचना भी ओज गुण की अभिव्यंजक है।

ग– **प्रसाद गुण–** जिन वर्णों समासों तथा रचनाओं के श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वे सब प्रसाद गुण के अभिव्यंजक हैं।

''जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म होने पर भी उपचार से शरीर के मान लिए जाते हैं। उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के धर्म होने पर भी उपचार से शब्द गुण कह दिए गए हैं।''

रीति निरूपण

अग्निपुराण के काव्य में रीतियों का भी अभिन्न स्थान है। काव्य का पूर्ण ज्ञान कराने में रीति का स्थान निर्विवाद है। ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' कहकर वामन ने सर्वप्रथम काव्य में रीति को प्रमुख स्थान दिया था। उनको काव्य की आत्मा के रू॰ में प्रतिपादित किया है। यद्यपि काव्य शास्त्रीय जगत में रीति तत्वों की खोज वामन से बहुत पहले हो चुकी थी। तथापि वामन पहले आचार्य हुए जिन्होंने रीति की स्पष्ट व्याख्या की और काव्य की आत्मा माना। वामन ने रीति का गुणों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया।

''विशिष्टा पद संघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।।''

अर्थात् पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है और विशेष का अर्थ है गुणों से युक्त होना, ये गुण काव्य की शोभा के सम्पादक हैं। इस काव्य शोभा के सम्पादित हुए बिना काव्य की रचना नही हो सकती है। ऋग्वेद में रीति पद का प्रयोग अनेक स्थानों में हुआ है। यहॉ इसका अर्थ है गमन या मार्ग यथा ''महावरीतिः शवसा सरत् पृथक्'' ''वातेर्वाजुर्या नद्येव रीतिः'' ''तामस्य रीतिः परशेरिव'' आदि स्थलों पर रीति पद का प्रयोग दृष्टिगोचर है। वर्तमान समय में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों में वामन का काव्यालंङ्कार ही प्रथम ग्रन्थ है जिसमें काव्यगत रीति की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। वामन से पहले भामह और दण्डी ने भी इस ओर संङ्केत किया है। परन्तु उन्होने रीतिपद का प्रयोग न करके मार्गपद का प्रयोग किया है।

विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले आचार्य अपने प्रदेश की शैली में काव्यों की रचना करते थे। रीति का प्रथम विशद निर्देश भामह ने किया। परन्तु उसने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद अपनाया है। भामह के काव्यालंङ्कार ग्रन्थ का अध्ययन करने से विदित होता है कि उस युग में साहित्य रचना के दो मार्ग प्रतिष्ठित हो चुके थे, वैदर्भ और गौड़ीय। इसमें वैदर्भ मार्ग अधिक प्रशंसित था। तो भी गौड़ीय मार्ग की अपनी विशेषता थी। भामह के समय में इन मार्गों का देश विशेष से सम्बन्ध नहीं था। वामन ने इस बात का समर्थन किया।

भामह के पश्चात् दण्डी ने रीतियों का अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण किया। परन्तु उन्होंने भी इसके लिए मार्ग नाम का प्रयोग किया। दण्डी ने लिखा–

सूक्ष्म भेद के कारण काव्य रचना के मार्ग अनन्त हैं। परन्तु मुख्य मार्ग दो ही हैं। जिनके भेदो की गणना नहीं की जा सकती है। रीति तत्व का सांगोपांग विवेचन वामन ने किया और इसको काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया।

विशिष्टा पद रचना रीति– अग्निपुराण के काव्यशास्त्र रीतियों की संख्या तीन हो गयी है। वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी, इन रीतियों में भिन्नता गुणों के भेद तथा इनकी संख्या के अल्प तथा अधिक होने से होती है। रीति के इतिहास में रुद्रट का प्रमुख स्थान है वे पहले आचार्य हैं जिन्होंने रीतियों को भौगोलिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके काव्य व्यवहार की परम्परा में संयोजित किया। उन्होंने वामन की तीन रीतियों में एक अन्य रीति लाटी को भी जोड़ा है। रुद्रट ने एक कार्य और भी किया है। रसों का सम्बन्ध रीतियों के साथ किया। रसौचित्य के अनुसार रीतियों के संयोजन की व्यवस्था की। राजशेखर ने रीतियों का आधार वचन विन्यासक्रम बताया है। काव्यपुरुष द्वारा प्रचुर समास युक्त, अनुप्रास युक्त, योगप्रविति, परम्परागर्भ का उच्चारण करने पर गौडी रीति बनी, अल्प समास युक्त, तथा उपचार गर्भ वचन का उच्चारण करने पर पंचाली रीति हुई। समास रहित स्थानुप्रास युक्त तथा योगवृत्ति गर्भ वचन का उच्चारण करने पर वैदर्भी की रचना हुई।

इससे सिद्ध होता है कि राज शेखर गौडी रीति में दीर्घ समास पंचाली रीति में अल्पसमास और वैदर्भी रीति में समास रहित पद विन्यास मानते हैं। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने यद्यपि तीन ही रीतियों की चर्चा की है। तथापि कर्पूरमंजरी रूपक में उन्होंने मागधी रीति का भी प्रतिपादन किया है। इन सभी रीतियों में उन्होंने वैदर्भी रीति के प्रति अधिक आदर प्रकट किया है।

रीतियों के चिन्तन में भोज का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। भोज ने श्रृंङ्गार प्रकाश में पांचाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी, इन चार रीतियों की विवेचना की है। परन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण में उन्होंने दो अन्य रीतियों अवन्तिका और मागधी की भी कल्पना की है। इस प्रकार उन्होंने छः रीतियों का प्रतिपादन किया है।

अग्निपुराण में चार रीतियों का वर्णन है। इसमें या तो भोज का अनुकरण है या भोज ने अग्निपुराण का अनुकरण किया है। रीति के इतिहास में कुन्तक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुन्तक ने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया है।उन्होंने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग गौड़ी रीति को विचित्र मार्ग तथा पांचाली रीति को मध्यम मार्ग नाम दिया है।

कुन्तक ने इन मार्गों के साधारण और विशिष्ट धर्मों का प्रतिपादन भी किया है। सुकुमार मार्ग के चार विशिष्ट गुण हैं।

शारदातनय ने वचन विन्यास क्रम को रीति का आधार माना है। उन्होंने प्रचीन चार रीतियों वैदर्भी, पांचाली, गौडी और लाटी का वर्णन करके दो अन्य रीतियों सौराष्ट्री और द्राविणी का भी प्रतिपादन किया। वाग्विद्या का पूर्ण ज्ञान कराने में रीति का स्थान निर्विवाद है। इसमें वैदर्भी, पांचाली, गौडी और लाटी चार भेद हैं–

1– पांचाली रीति में छोटे– छोटे विग्रह समास होने चाहिए और वह कोमल तथा अलंङ्कृत भाषा से संयुक्त हो।

गौडी रीति में लम्बे–लम्बे समास हों और सन्दर्भ अनवस्थित क्षीण सम्बन्ध हो।

2– वैदर्भी रीति में न तो अधिक अलंङ्कृत भाषा का प्रयोग हो और न अलंङ्कार प्रयोग से सर्वथा हीन ही हो।

इसमें अति कोमल शब्दावली का प्रयोग न हो और यह समास से भी रहित होनी चाहिए। जबकि समास अत्यन्त स्फुट न हो।

भाषा का अनावश्यक अलंङ्करण इसमें नहीं होना चहिए। यह अधिक लाक्षणिक तत्वों से रहित हो।

वाग्विद्यासंप्रतिज्ञाने रीतिः साऽपि चतुर्विधा।
पांचाली गौडदेषीया वैदर्भीलाटजातधा।।[1]
उपचारयुता मृदी पांचाली ह्रस्वविग्रहा।
अनवस्थितसंदर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा।।[2]
उपचारैर्न वहुभिरुपचारैर्विवर्जिता।
नातिकोमल संदर्भा वैदर्भी मुक्तविग्रहा।।[3]
लाटीया स्फुटसंदर्भा नातिविस्फुर विग्रहा।
परित्यक्ताऽभिभूयोऽपि रुपचारैरुदाहृता।।[4]

---

(1) अग्निपुराण 340/1
(2) अग्निपुराण 340/2
(3) अग्निपुराण 340/3
(4) अग्निपुराण 340/4

वृत्ति निरूपण

नाट्यप्रयोग में वृत्तियों का विशेष महत्व है, नायक के व्यापार को वृत्ति कहते हैं। भरत ने कहा है– कायिक, वाचिक, मानसिक, व्यापार वृत्ति है। आनन्दवर्द्धन इसे व्यवहार कहते हैं। अभिनव और धनंजय ने इसे नायकादि का चेष्टाव्यापार माना है, भोज, राजशेखर सागनन्दी चेष्टाविन्यास क्रम को वृत्ति कहते हैं। अग्निपुराणकार नायकादि के कार्य में नियमपूर्वक व्यापार को वृत्ति कहते हैं अभिनव एवं नाट्यदर्पणकार के अनुसार पुमर्थसाधक नानाप्रकार के व्यापार को वृत्ति कहते है। भरत ने वृत्तियों को नाट्य की माता कहा है। (**वृत्तयो नाट्य मातरः**)[1] वृत्तियॉ रसोदय की स्रोत हैं। इस लिए उन्हें नाट्य की माता कहा गया है। नायक नायकादि के विलासपूर्ण व्यापार रूप वृत्ति के द्वारा रसोदय होता है। इस प्रकार जिससे नाट्य में रस का संचरण हो वह वृत्ति है।

भरत ने वृत्तियों के उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक रोचक आख्यानप्रस्तुत किया है। दर्पोन्मत्त मधु कैटभ के साथ युद्ध करते समय भगवान विष्णु ने जो क्रिया कलाप किये थे उन्ही से वृत्तियों का जन्म हुआ। युद्ध के समय विष्णु ने कठोर भर्त्सना पूर्ण वचनों का उच्चारण करते हुए भूमि पर बलपूर्वक पदन्यास किया तो धरती पर अतिभार हो गया। इससे वाग्भूयिष्ठ भारती वृत्ति का उदय हुआ। युद्ध के समय जब विष्णु ने विचित्र अंङ्गहारों एवं लीला पूर्ण चेष्टाओं से केश का संयमन किया तो उससे केशिकी का उद्भव हुआ। आवेग वहुल नानाचारियों सं समन्वित विचित्र द्वन्द युद्धों से आरभटी वृत्ति का उद्गम हुआ।[2]

---

(1) नाट्यशास्त्र 22 / 64

(2) नाट्यशास्त्र 20 / 10–14

भरत ने वृत्तियों के उत्पत्ति के सम्बन्ध में पौराणिक परम्परा के अतिरिक्त वैदिक स्रांत की कल्पना की है। उनके अनुसार ऋग्वेद में भारती वृत्ति, अभिनय प्रधान यजुर्वेद से सात्वती वृत्ति, गीत प्रधान सामवेद, कौशिकी वृत्ति और रस प्रधान अर्थववेद से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई है।

ऋग्वेदात्भारती वृत्तिर्यजुर्वेदाच्च सात्वती।

कौषिकी सामवेदाच्च शेषा चार्थवर्णादपि।।[1]

इसके अतिरिक्त अग्निपुराण की परम्परा का उल्लेख मिलता है। मदनुसार भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारती वृत्ति, सात्वत राजा के द्वारा प्रकाशित की गयी, सात्वती वृत्ति आरभट के द्वारा प्रकाशित होने से आरभटी वृत्ति और कुशिक राजा के द्वारा प्रकाशित होने से कौशिकी वृत्ति कहलायी। इस प्रकार ये चारों वृत्तियॉ रस एवं भावों की अनुभाविका क्रिया है।[2]

भारती वृत्ति

नाट्यशास्त्र के अनुसार भारती वृत्ति शब्द पर आश्रित है। शेष तीनों वृत्तियॉ अर्थ पर आश्रित हैं। अभिनव गुप्त ने भारती वृत्ति को पाठ्यप्रधाना वाग्वृत्ति कहा है। नाट्यदर्पणकार ने इसे भारती रूप होने से भारती वृत्ति कहा है।[3]

भारती वृत्ति के चार अंङ्ग बताए गए हैं, प्ररोचना, आमुख, वीथी, प्रहसन और आमुख। ये दो वस्तुतः नाटक के प्रस्तावना से सम्बद्ध हैं। वीथी और प्रहसन, ये दोनों रूपक के दो प्रकार हैं, यहॉ पर हम भारती वृत्ति के अंङ्गों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

(1) नाट्यशास्त्र — 201/24

(2) अग्निपुराणोक्त काव्यालंङ्कारशास्त्रम् — पृ0 112

(3) नाट्यदर्पण — पृ0 136

प्ररोचना

पूर्वरंङ्ग में नाटकादि की प्रशंसा करके सामाजिकों को नाटक के अवलोकन की ओर उन्मुख करना प्ररोचना है।[1]

आमुख

जहॉ पर सूत्रधार नटी विदूषक परिपार्शिक के साथ प्रस्तुत कार्य का आक्षेप करते हुए चित्र विचित्र उक्तियों के द्वारा वार्तालाप करे, उसे आमुख कहते हैं। इसे ही प्रस्तावना नाम से अभिहित करते हैं।

नाट्यशास्त्र एवं साहित्यदर्पण के अनुसार प्रस्तावना के पॉच भेद बताए गए हैं–

(1) उद्घात्यक (2) कथोद्घात (3) प्रयोगातिशय

(4) प्रवृत्तक (5) अवगलित।[2]

परन्तु धनंजय और अग्निपुराणकार ने इसके तीन भेद बताए हैं–

(1) कथोद्घात (2) प्रयोगातिशय (3) प्रवृत्तक।[3]

जहॉ पर सूत्रधार के द्वारा प्रयुक्त वाक्य या वाक्यार्थ का अनुस्मरण करते हुए किसी पात्र का प्रवेश होता है, उसे कथोद्घात कहते हैं। एक प्रयोग के द्वारा दूसरे प्रयोग का आरम्भ करते हुए पात्र का प्रवेश करना प्रयोगातिशय है। ऋतु आदि के वर्णन के द्वारा जहॉ प्रयोग प्ररम्भ होता है, उसे प्रवृत्तक कहते हैं। उद्घात्यक और अवगलित का वीथी के अंङ्गों का परिगणन हैं, इसका विवेचन इस प्रकार है।

---

(1) नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) 20/28–29

(2) नाट्यशास्त्र 20/30–31 साहित्यदर्पण 6/83

(3) दशरूपक 3/8 अग्निपुराणोक्त काव्यालंङ्कारशास्त्रम् 2/14

वीथी के तेरह अंड्ग होते हैं।

(1) **उद्घात्यक–** जहॉ पर प्रश्नोत्तरात्मक उक्ति प्रत्युक्तिमय वार्तालाप अथवा एकालाप के द्वारा अनिश्चित अर्थ का निर्धारण होता है। उसे उद्घात्यक वीथ्यंड्ग कहते हैं।

(2) **अवगलित–** जहॉ पर एक कार्य के समावेश से दूसरे कार्य की सिद्धि की जाए अथवा जहॉ एक कार्य के प्रस्तुत होने पर अन्य अप्रस्तुत कार्य की सिद्धि हो जाय वहॉ अवगलित नामक वीथ्यंड्ग होता है।

(3) **प्रपंच–** हास्यजनक अथवा मिथ्या प्रशंसा परक कथोपकथन प्रपंच कहलाता है।

(4) **त्रिगत–** शब्द सादृश्य के कारण अथवा नट–नटी और सूत्रधार तीनों के द्वारा जहॉ अनेक अर्थों की योजना हो उसे त्रिगत नामक वीथ्यंड्ग कहते हैं।

(5) **छल–** जहॉ प्रिय प्रतीत होने वाले अप्रिय वचनों के द्वारा प्रलोभित कर किसी के साथ वंचना की जाए उसे छल कहते हैं।

(6) **वाक्केलि–** जहॉ पर कतिपय उक्ति प्रत्युक्तियों के द्वारा हास परिहास हो अथवा अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो उसे वाक्केलि कहते हैं।

(7) **अधिवल–** परस्पर स्पर्द्धापूर्वक बढ़ चढ़ कर वार्तालाप करना अधिवल है।

(8) **गण्ड–** जहॉ पर प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध भिन्नार्थक वचन का सहसा कथन हो उसे गण्ड कहते हैं।

(9) **नलिका–** जहॉ पर हास परिहास युक्त गूढ़ अर्थ वाली पहेली का कथन हो उसे नलिका कहते हैं।

(10) **अवस्यन्दित–** जहॉ पर स्वाभिप्राय के प्रकाशक वचन की अन्य प्रकार से व्याख्या हो उसे अवस्यन्दित कहते हैं।

(11) **असत्प्रलाप–** असम्बद्ध अथवा ऊट पटांग बात का प्रयोग असत्प्रलाप कहलाता है।

(12) **आहार–** दूसरे के लिए हास्यजनक अथवा क्षोभकारक वचन (वाणी) का प्रयोग करना व्यवहार कहलाता है।

(13) **मृदव–** जहॉ पर गुण दोष जैसा और दोष गुण जैसा प्रतीत होने वाला वचन हो उसे मृदव कहते हैं।

सात्वती वृत्ति

सात्वती वृत्ति सत्व प्रधान मानस व्यापार है। इसमें वाचिक एवं आंङ्गिक अभिनयों के साथ सत्व या मनोव्यापार की अधिकता पायी जाती है। भरत के अनुसार इसमें सत्वगुण की प्रधानता रहती है, इस वृत्ति में शौर्य, त्याग, दया, दान, आर्जव आदि गुणों के साथ सत्व की अधिकता होती है, इसमें हर्ष का प्रकाशन शोक का संवरण एवं अद्भुत रस की प्रचुरता रहती है।

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समकन्वता च।
हर्षोत्कटा संहृतषोकभावा सा सात्वती नाम् भवतु वृत्ति।।[1]

भरत ने इसे वीर, अद्भुत एवं रौद्र रस के लिए उपयुक्त माना है। इसमें उद्धत प्रकृति के पुरुष पात्र अधिक रहते हैं। मनीषियों ने इसके चार भेद किये हैं–

(1) **उत्थापक–** शत्रु को उत्तेजित करने वाली वाणी को उत्थापक कहते हैं।

(2) **सांघात्य–** मंत्र शक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि के द्वारा शत्रु के संघ का भेदन (फोडना) सांघात्य है।

(3) **संलाप–** विविध भावों के आश्रित गम्भीर उक्ति संलाप है।

(4) **परिवर्तक–** प्रारम्भ किए हुए कार्य को छोंड़कर अन्य कार्य का सम्पादन परिवर्तक कहा जाता है।

---

(1) नाट्यशास्त्र 22/38

आरभटी

आर का अर्थ है चाबुक या अंङ्कुश। आर (अंङ्कुश के समान उद्धत) भट योद्धा पुरुष आरभट कहे जामे हैं। उन आरभटी का वर्णन जिस वृत्ति में हो उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं।

आरेण प्रतोदकेन अंङ्कुषेन वा तुल्या भटा उद्धताः।

पुरुषा आरभटास्ते सन्त्यामिति आरभटी।।[1]

भरत के अनुसार आरभट के गुणों (क्रोध, आवेग) आदि से युक्त जो वृत्ति होती है, उसे आरभटी कहते हैं।[2] आरभटी वृत्ति में नाना प्रकार के इन्द्रजाल (माया) युद्ध, कपट, दम्भ, अनृत, वंचना, छल, वध, क्रोध आदि का बाहुल्य पाया जाता है, इस वृत्ति के पात्र उद्धत होते हैं। यह वृत्ति वाचिक, आंङ्गिक, सात्विक, आहार्य आदि सभी प्रकार के अभिनयों से सम्पन्न है। इस वृत्ति के चार अंङ्गों का वर्णन प्रस्तुत है–

(1) **वस्तूत्थापन–** माया इन्द्रजाल आदि के द्वारा किसी नवीन वस्तु का उत्थापन वस्तूत्थापन है।

(2) **सम्फेट–** क्रोध और आवेग से पक्ष और विपक्ष में परस्पर प्रहार करना या द्वन्द्व युद्ध सम्फेट कहलाता है।

(3) **संक्षिप्ति–** कुशल शिल्पियों के द्वारा या अन्य प्रकार से वस्तु विशेष की संक्षिप्त रचना ही संक्षिप्ति है।

(4) **अवपात–** हर्ष, क्रोध, भय, विद्रव, विनिपात, सम्भ्रम आदि के कारण क्षिप्रता से प्रवेश और निष्क्रमण होने पर अवपात होता है।

---

(1) नाट्यदर्पण पृ0 140

(2) नाट्यशास्त्र 20/64–66

कौशिकी

कौशिकी वृत्ति का सम्बन्ध केश से माना जाता है। भरत के अनुसार भगवान विष्णु के लीला युक्त विचित्र अंड्गहार से अपने सुन्दर केशों को बांधा तो कौशिकी वृत्ति का उदय हुआ। नाट्यदर्पण में लम्बे–लम्बे केशों से युक्त होने के कारण स्त्रियों को केशिका भी कहा जाता है।

विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः।

बबन्ध यः शिखापाषं कैशिकी तत्र निर्मिता।।[1]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार विशेष प्रकार की वेशभूषा हास्य, श्रृंड्गारादि की चेष्टाओं से विचित्र नाट्य, नृत्य गीत, वाद्ययुक्त तथा स्त्री पात्रों की बहुलता से समन्वित कैशिकी वृत्ति होती है।

याश्लक्षण नंपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या वहुनृत्तगीता।

कामोप भोगेन प्रभवोपचारा तां कैशिकी वृत्ति मुदराहन्ति।।[2]

भरत मुनि के अनुसार मनोहर वेशभूषा से विचित्र, स्त्री पात्रों से समन्वित, नृत्यगीत की बहुलता से सरस स्त्री एवं पुरुष पात्रों के काम भाव से सम्बद्ध श्रृंड्गार रसात्मक व्यापार ही कौशिकी वृत्ति कहलाती है। इस वृत्ति के चार अंड्ग हैं। जो इस प्रकार हैं–

(1) **नर्म–** प्रियजन को आकर्षित (प्रसन्न) करने वाला बहुविध, कुशल क्रीडा विलास नर्म है। इसकी तीन विशेषताएं हैं– शुद्ध हास्य, श्रृंड्गार मिश्रित हास्य और भय मिश्रित हास्य। इसमें शुद्ध हास्य की तीन विधाएॅ हैं। वेश, वचन, चेष्टा, श्रृंड्गार हास्य के तीन आधार हैं– आत्मोपक्षेपण, संभोगेच्छा और ईर्ष्या। भय मिश्रित हास्य की तीन विधाएॅ हैं– शुद्ध एवं अन्य रसों द्वारा संहृत नर्म के द्वारा प्रियजनों का मनोरंजन होता है।

(2) **नर्म स्फिज्–** जहॉ पर नायक नायिकाओं का प्रथम मिलन प्रारम्भ में सुखजनक और अन्त में भयोत्पादक हो वहॉ पर नर्म स्फिज् होता है।

''नर्मतत्स्फिज्तत्स्फोट तद्गर्भैष्चतुरंड्गिका।।''

(3) **नर्मस्फोट**– विविध भावों के किंचित अंश से रस का सृजन नर्म स्फोट है।

(4) **नर्म गर्भ**– प्रच्छन्न नायक का कार्यवश नायिका के साथ प्रच्छन्न प्रेम व्यवहार नर्म गर्भ है।

अभिनव गुप्त के अनुसार सौन्दर्योपयोगी व्यापार का नाम कौशिकी वृत्ति है। (**सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कौषिकीवृत्तिरिति**) नाटक में जो कुछ ललित व्यापार है। वह सब कौशिकी वृत्ति का विलास है।

इस प्रकार भारती सात्विक आरभटी और कौशिकी इन चार वृत्तियों का विवेचन किया गया है। इन वृत्तियों में उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पुरुषों एवं स्त्रियों के चेष्टा व्यापार प्रदर्शित किये जाते हैं। इसमें शरीर, वाणी और मन की चेष्टाएँ होती हैं। इन वृत्तियों में भारती वाग्व्यापार प्रधान वृत्ति है। सात्वती वृत्ति मनोव्यापार रूप हैं। आरभटी वृत्ति शरीर व्यापार युक्त है। सौन्दर्योपयोगी शरीर व्यापार कौशिकी वृत्ति है।

अग्निपुराणकार एवं भोज के अनुसार, ये वृत्तियॉ अनुभाव के रूप में बुद्धयारम्भक व्यापार है। भोज ने विमिश्रा नामक पॉचवी वृत्ति स्वीकार की हैं। किन्तु यहॉ चारों वृत्तियों की मिश्रित रूप है।

इसमें भारती वृत्ति वाक्य प्रधान होने के कारण सभी रसों एवं भावों में रहती है। सात्वती वृत्ति में वीर और अद्भुत रसों की प्रधानता रहती है और कौशिकी वृत्ति में हास्य एवं श्रृंङ्गार की बहुलता होती है।

प्रवृत्ति

प्रवृत्ति पात्रों की वेशभूषा भाषा व्यवहार आदि से सम्बद्ध होती है। नाट्य के अनुसार पृथ्वी पर विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित नाना वेशभूषा, भाषा, आचार, विचार और वार्ता का ख्यापन करने वाली वृत्ति प्रवृत्ति कहलाती है।

पृथिव्यां नानादेषवेष भाषा चाराः वार्ता ख्यापयतीति वृत्तिः प्रवृत्तिश्च निवेदने।।[1]

---

(1) नाट्यशास्त्र अभिनव भारती भाग 2 पृ0 202

अभिनव गुप्त ने प्रवृत्ति शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिन जिन देशों में जो वेशभूषा एवं भाषा प्रचलित है, जो आचार विचार एवं व्यवहार है। जो वार्ता अर्थात् कृषि पशुपालन एवं वाणिज्यादि जीविका है। उनका प्रख्यान करने वाली वृत्ति प्रवृत्ति है। क्योंकि वाह्य अर्थ के विषय में निवेदन अर्थात् निःशेष ज्ञानरूप अर्थ में प्रवृत्ति शब्द है। प्रवृत्ति विभिन्न देशों की वेशभूषा व्यवहार आदि के जानने का प्रमुख साधन है। राज शेखर के अनुसार, विलास विन्यास क्रम वृत्ति है और वेश विन्यास क्रम प्रवृत्ति है। परिवर्ती आचार्यों ने भरत की वृत्ति में ही रीति का समावेश कर दिया है। भरत के अनुसार प्रवृत्तियॉ चार प्रकार की होती हैं।

(1) **दक्षिणात्य–** दक्षिणात्य प्रदेश के अर्न्तगत महेन्द्र मलय सह्यमेकल तथा कालपंजर नामक पर्वतों के आसपास के प्रदेश तथा विन्ध्य एवं दक्षिण सागर के मध्य स्थित द्रविण, आन्ध्र, महाराष्ट्र, वनवास, कलिंङ्ग कोशल आदि प्रदेश आते हैं। इस भूभाग के लोगों की वेशभूषा, भाषा, आचार, विचार, व्यवहार में परस्पर बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। इस लिए इन सबके लिए दक्षिणात्य प्रवृत्तिका विधान बताया गया है।[1] इस प्रदेश के लोगो में नृत्य गीत एवं वाद्यों के प्रति अधिक अभिरुचि देखी जाती है। इनकी वृत्ति कौशिकी वृत्ति कही गयी है। इसमें चतुर, मधुर ललित एवं अभिनय होते हैं।

तत्र दक्षिणात्यास्तावत् वहुनृतगीतवाद्याः
कौशिकीप्रायाः चतुर मधुर ललितांङ्गाभिनयाश्च।।[2]

---

(1) नाट्यशास्त्र 12/39–41

(2) नाट्यशास्त्र अभिनव भारती भाग 2 पृ0 207

(2) **अवन्तिका–** अवन्तिका का प्रदेश के अन्तर्गत अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, सिन्धु, सुवीर, आनर्त, दशार्ण, त्रिपुर, विवर्त आदि आते हैं। इस प्रदेश के लोगों की वेशभूषा, भाषा, आचार, विचार, व्यवहार बहुत कुछ साम्य पाया जाता है।[1] नाट्य प्रयोग में तत्तद् देशज वेश आवश्यक होते हैं।

(3) **औड्रमागधी–** अंङ्ग, बंङ्ग, कलिंङ्ग, वस्त, औड्र, मगध, पौण्डु, नेपाल, विदेह, प्राग्ज्योतिष, ब्रह्मेत्तर, पुलिन्द ताम्रलिप्त, प्रदेशों में औड्रमागधी प्रवृत्ति पायी जाती है। इस भू–भाग के लोग नाट्यप्रयोग में औड्रमागधी प्रवृत्ति का प्रयोग करते हैं। इसमें आडम्बरपूर्ण घटाटोप वाक्यों का प्रयोग बहुलता से होता है। इस भू–भाग के लोगों को औड्रमागधी प्रवृत्ति के अनुसार अभिनय करना आता है।[2]

(4) **पांचालमध्यमा या पांचाली–** पांचाल, शूरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर, मद्र, उशीनर आदि प्रदेश तथा गंङ्गा के उत्तर दिशा एवं हिमालय के दक्षिणी भाग में आश्रित प्रदेशों में पांचाली प्रवृत्ति का प्रचलन पाया जाता है। इस भू–भाग के लोगों में गीत प्रयोग की अल्पता पायी जाती है।[3]

नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति के अनुसार ही रंङ्गमंच पर पात्रों के प्रवेश का विधान बताया गया है। तदनुसार आवन्ती और दक्षिणात्या प्रवृत्ति के लोग दक्षिण पार्श्व से रंङ्गमंच पर प्रवेश करते हैं। द्वार होने पर आवन्ती और दक्षिणात्या प्रवृत्ति के लोग नाट्यगृह में उत्तर द्वार से और पांचाली एवं औड्रमागधी प्रवृत्ति के लोग दक्षिण द्वार से प्रवेश करते हैं।[4] उन दो प्रदेशों के लोगों को उनउ न देशों की प्रवृत्ति के अनुसार अभिनय करना चाहिए।

---

(1) नाट्यशास्त्र 12 / 42–43

(2) नाट्यशास्त्र 13 / 45–48

(3) नाट्यशास्त्र 13 / 49–50

(4) नाट्यशास्त्र 13 / 52–54

अग्निपुराण में वृत्तियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। क्रियाओं (नायिका के कार्यों) में नियमपूर्वक व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। इसके चार भेद हैं–

(1) भारती	औड्रमागधी
(2) सात्वी–कौशिकी	पांचालमध्यमा
(3) सात्वती–आरभटी	आवन्ती
(4) कौशिकी	दाक्षिणात्या

भारती वृत्ति में शब्दों के महत्व पर अधिक ध्यान दिया जाता है और स्त्री पात्रों द्वारा प्राकृत का प्रयोग कराया जाता है। भरतमुनि द्वारा प्रवर्तित या प्रणीत होने के कारण ही इसका नाम भारती वृत्ति है। भारती वृत्ति के चार अंङ्ग हैं। वीथी के निम्नलिखित तेरह अंङ्ग हैं–

(1) उद्घात्यक	(2) असत्प्रलाप	(3) वाक्केलि	(4) नालिका
(5) प्रपंच	(6) छल	(7) अवस्यन्दित	(8) गण्ड
(9) मृदव	(10) अथोचित	(11) अवगलित	(12) व्याहार
(13) त्रिगत			

प्रहसन नामक एकांकी में तपस्वी आदि के लिए हास्यास्पद वचन प्रस्तुत किए जाते हैं। आरभटी वृत्ति में मायावी और अद्भुत दृश्य रहते हैं और युद्ध आदि की बहुलता रहती है।

साहित्य वधू के अनुकरण में पूर्व देशों में भारती वृत्ति और औड्रमागधी प्रवृत्ति प्रचलित हुई। पांचाल देश में सात्वती और आरभटी वृत्ति तथा पांचाल मध्यमा प्रवृत्ति ने जन्त लिया। अवन्ती में सात्वी और कौशिकी वृत्तिएवं आवन्ती वृत्ति का प्रचलन हुआ। विदर्भ देश में कौशिकी वृत्ति तथा दक्षिणात्या प्रवृत्ति प्रचलित हुई।

रीति और वृत्ति के परस्पर सम्बन्ध पर विचार के लिए वृत्ति को समझना आवश्यक है। अग्निपुराण के काव्य में दो प्रकार की वृत्तियॉ कही गयी हैं– अर्थ वृत्तियॉ तथा शब्द वृत्तियॉ।

भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में बताया गया है कि कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती चार प्रकार की वृत्तियॉ हैं। जो सभी काव्यों की माताएँ हैं। इसके द्वारा ही दस रूपको का अभिनय किया जाता है। आचार्यों ने इन वृत्तियों को अर्थवृत्ति कहा है।

क्रियास्वविषमा वृत्तिभारत्यारभटी तथा।
कौशिकी सात्वती चेति सा चतुर्धाप्रतिष्ठिता।।[1]
वाक्यप्रधाना नर प्रया स्त्रीयुक्ताप्राकृतोक्तिता।
भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते।।[2]
चत्वार्यङ्गानि भाख्या वीथी प्रहसनं तथा।
प्रस्तावना नाटका देर्वीध्यंङ्गाश्च त्रयोदश।।[3]
उद्घातकं तथैव स्याल्लपितं स्यादिद्वतीयकम्।
असत्प्रलापो वाक्श्रेणी नालिका विपणं तथा।।[4]
व्याहारस्त्रिमतं चैव च्छलावस्कन्दिते तथा।
गण्डोऽथ मृदवश्चैव त्रयोदशभथोचितम्।।[5]
तापसादेः प्रहसनं परिहरसपरं वचः।
मायेन्द्रजाल युद्धादि वहुलाऽऽरभटी स्मृता।।[6]
संक्षिप्तकारपातौ च वस्तूत्थपनमेव च।।[7]

---

(1) अग्निपुराण 340/5
(2) अग्निपुराण 340/6
(3) अग्निपुराण 340/7
(4) अग्निपुराण 340/8
(5) अग्निपुराण 340/9
(6) अग्निपुराण 340/10
(7) अग्निपुराण 340/11

इन अर्थवृत्तियों के अतिरिक्त काव्य में शब्दवृत्तियॉ होती हैं। जिनका सम्बन्ध पदों की संघटना से होता है। ये शब्द वृत्तियॉ तीन होती हैं– उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन शब्दवृत्तियों को रस के साथ संयोजित किया जाता है। मम्मट ने अनुप्रास के दो भेद छेक और वृत्ति के निरूपण के प्रसंङ्ग में कहा है– नियत वर्णगत रसविषयक, व्यापार, वृत्ति कहलाते हैं।

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्द्धन ने भी दो प्रकार की वृत्तियॉ कही हैं। रस आदि के अनुगुण रूप से शब्द और अर्थ का जो औचित्य से युक्त व्यवीार है, वं कौशिकी आदि वृत्तियॉ हैं। मथा वाच्य वाचक व्यापार उपनागरिका आदि वृत्तियॉ हैं।

वृत्तियों के सम्बन्ध में किए गए इस विवेचन में स्पष्ट है कि कौशिकी आदि अर्थवृत्तियों से रीतियों का सम्बन्ध नहीं के बराबर है। उपनागरिका आदि वृत्तियों और रीतियों में आचार्यों ने अभेद का प्रतिपादन किया है। परन्तु कुछ आचार्य वृत्ति को रीति का एक अंङ्ग मानते हैं।

निष्कर्षतः रीतियों और वृत्तियों का विवरण अग्निपुराणकार ने संक्षेप में दिया है। जिसने रीतियों और वृत्तियों की उत्पत्ति लक्षण तथा विभिन्न रसों का सजीव वर्णन किया है। अग्निपुराण में भारती वृत्ति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि भरत द्वारा प्रणीत होने से इसको भारती कहा गया है। भरत ने नाट्यशास्त्र में स्वयं कहा है कि वृत्ति का प्रणयन इन्होंने स्वयं किया है।

सर्वेषामेव काव्यानां मातृकाः वृतयः स्मृताः।।[1]
रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थ शब्दयोः।।[2]
वृत्तिर्नियत वर्णगतो रसविषयो व्यापारः।।

---

(1)नाट्यशास्त्र 20/4

(2) ध्वन्यालोक 3/33

अध्याय

पंचम्

(काव्य के दोष)

काव्य के दोष

काव्य शास्त्र के विवेच्य विषयों में दोषों का प्रकरण बहुत महत्वपूर्ण हैं। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की निर्दोषिता पर बहुत पर बहुत बल दिया है और कहा है कि रचना को दोषों से रहित होना चाहिए।

काव्यशास्त्र के आचार्यो का अभिमत यह है—

दोष काव्य का अपकर्ष या विघटन करते है ;अतः कवि को काव्य की रचना करते समय इनसे सावधान रहना चाहिए।

काव्य के दोषों का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि ने किया, नाट्य शास्त्र के सोलहवें अध्याय में उन्होंने दस दोषों का उल्लेख किया है और उनके लक्षण लिखे हैं परन्तु आचार्य भरत ने उनकी विशद व्याख्या नही की।

भामह ने भी काव्यगत दोषों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—

कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि काव्य में एक भी दोषयुक्त शब्द का प्रयोग न हो दोष से युक्त काव्य कुल्सित पुत्र के समान निन्दनीय होता हैं। कवि न होने से तो मनुष्य पाप का, रोग का , या दण्ड का ही भागी हो सकता है, परन्तु ज्ञानी मनुष्य के अनुसार बुरा कवि होना तो मृत्यु के समान हैं। भामह ने – काव्यालंङ्कार ग्रन्थ में ग्यारह दोषों का उल्लेख किया है।

दण्डी भी काव्य में दोषों के परिहार को महत्व देते है , उनका कथन है कि ककिाव्य के छोटे से छोटे दोष को भी अक्षम्य समझना चाहिए। काव्य में छोटा सा भी दोष इस प्रकार का होता जैसे कि ''सुन्दर शरीर पर कोढ़ का दाग लगा हो'' और इससे घृणा का भाव उत्पन्न होता हैं। दण्डी ने दस दोषों का उल्लेख किया है।

प्राचीन आचार्यों ने दोषों का वर्णन सामान्य रूप से किया इसको इन्होने काव्यशास्त्र के एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में प्रस्तुत किया। उत्तरवर्ती

आचार्यों के समान उन्होने दोषों का विभाजन पद , वाक्य, अर्थ , रस आदि की दृष्टि से नहीं किया।

वामन ने यह वर्गीकरण पद– पदार्थ और वाक्य दोष –वाक्यार्थ दोष के रूप में किया है , उन्होने अलंड्कारों के दोष भी बताएॅ हैं। मम्मट आदि आचार्यो ने वामन के इस विषय विभाजन को कुछ अंशों में तो स्वीकार किया है परन्तु सम्पूर्ण रूप में नहीं। उदाहरण के लिये मम्मट ने वामनोक्त अलंड्कारों दोषों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही किया; क्योंकि उनके अलंड्कारों के अनुसार इनका अर्न्तभाव पद दोषों में ही हो जाता है।

काव्य का लक्षण करते हुए मम्मट शब्दार्थों के लिए तीन विशेषण देते हैं– ''अदोशौ '' और ''अनलड्कृती पुन : क्वापि विश्वनाथ ने तीनों विशेषणों की कठोर आलोचना की है।

'मम्मट के तीनों विशेषण काव्य का लक्षण करने में आवश्यक हैं और अपेक्षित नही मम्मट के काव्य के लक्षण में जितने पद है , उनसे भी आधिक संख्या में दोष हैं। ''

'' अदोषौ '' विशेषण के सम्बन्ध में विश्वनाथ का कथन है कि इसका अर्थ दो प्रकार से हो सकता है सवर्था दोष रहित अथवा ईषद् दोषरहित शब्द अर्थ काव्य होता है सर्वथा दोष रहित काव्य का मिलना कठिन है इस प्रकार का काव्य या तो मिलेगा नहीं और यदि मिलेगा भी तो बहुत कम मिलेगा ध्वनिकार ने –

न्यक्कारो ह्यमेव मे यदरयस्तत्रप्यसौ तापस :।
सोऽव्य त्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावण :।।
धिक् धिक् शक्रजितं प्रवोधितवता किं कुम्भकर्णेनवा।
स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठन वृघोच्छूनै : किमेभिर्भुजैः।।

इस श्लोक का ध्वनि काव्य (उत्तम काव्य) के उदहारण के रूप में प्रस्तुत किया हैं मम्मट ने इसमें विधेयाविमर्श दोष को दिखाया हैं। यदि काव्य के लक्षण में अदोषौ पद रख कर उसको सवर्था दोष रहित माना जाएगा, तो

इस श्लोक में विधेयाविमर्श दोष होने से इसको काव्य ही नहीं माना जा सकेगा, उत्तम काव्य का तो कहना ही क्या है यदि इसका समाधान यह हो जाये कि श्लोक के जितने अंश में दोष है, वहां अकाव्यत्व है तथा जितने अंश में दोष नहीं है वहां उत्तम काव्यत्व है, तो यह भी उचित नही होगा, क्योंकि छीना झपटी में यह काव्य या अकाव्य कुछ भी नही रहेगा।

श्रुतिकटुत्व दोष श्रृंड्गार आदि कोमल रसों की अभिव्यंजना के प्रसंड्ग में दोष है परन्तु रौद्र आदि कठोर रसों की अभिव्यक्ति के प्रसंड्ग में दोष नहीं हैं। इन स्थलों में यह रसानुभूति का बाधक न रहकर साधक हो जाता हैं काव्य के लक्षण में ''अदोशौ '' लिखने का मम्मट का अभिप्राय यही है कि काव्य को च्युति संस्कृति आदि नित्य दोषों से रहित होना चाहिए ।

मम्मट ने दोष का लक्षण इस प्रकार किया है–

'मुख्यार्थ का विघात करने वाला तत्व ही दोष है तथा मुख्यार्थ रस ही है। ''

इसका अभिप्राय यह है कि रस के अपकर्षक तत्व दोष कहलाते है विश्वनाथ में स्वंय भी रस के अपकर्षक तत्वों को दोष माना है।

मम्मट का ने काव्य के लक्षण में जो ''अदोषौ'' पद सम्मलित किया है उसका अभिप्राय यही है कि काव्य में रस की अनुभूति में बाधा डालने वाले दोष नही होने चाहिए। यदि काव्य में कुछ साधारण दोष हैं भी और वे रस की अनुभूति में व्याघात उत्पन्न नहीं करते तो दोष से युक्त होते हुये भी वह काव्य, काव्य ही होगा ; उसमें अकाव्यत्व की शंड्का नहीं की जा सकती। यदि काव्य सवर्था गुण सम्पन्न हैं और रसनिष्ठ है तो उसमें एक सामान्य सा दोष होने पर वह अकाव्य नहीं हो जावेगा। इस दोष से तो वह और भी श्लाघनीय प्रतीत होगा, जैसा कि कालिदास ने कहा –

''चन्द्रमा का कंलक उसकी शोभा का ही विस्तार करता है।''

भरत से लेकर विश्वनाथ तक अनेक आचार्यो में दोषों के स्वरूप तथा उनके भेदों का विवेचन किया हैं। परन्तु सबसे अधिक पूर्ण तथा समुचित विवेचन

मम्मट और विश्वनाथ का है। दोनों का विवेचन प्रायः एक सा है इनके विवेचन में जिस प्रकार सभी दोषों का समावेश हो गया है उससे अन्य सभी आचार्यो के दोष वर्णनों का समाहार हो जाता है। अतः दोषों का वर्णन करने के लिए दोनों आचार्यो के ग्रन्थों की सहायता मुख्य रूप से ली गई हैं।

दोष का सामान्य लक्षण है–''**मुख्यार्थहितःदोषः**'' यहॉ हति का अर्थ अपकर्ष हैं काव्य में रस ही मुख्यार्थ है, अतः जो रस के अपघातक या अपकर्षक होते है, वे ही काव्य दोष कहलाते हैं। यहॉ पर रस शब्द से भाव, रसाभाव, भावाभास आदि का ग्रहण होता हैं। अतः रस–भावादि के अपकर्षक ही दोष हैं, अर्थात् जिनसे रस आदि की सम्यक् अनुभूति में बाधा उपस्थित होती है सरस काव्य में वे ही दोष माने जाते हैं। जिन काव्यों में रस की मुख्यता नही होती उनमें चमत्कारक (शब्द बोध्य) वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंड्गन्य अर्थ को ही मुख्यार्थ कहा जाएगा; क्योंकि अर्थ भी रस का उपकारक है (विभाव आदि ही रस के व्यंजक हैं) अतएव रसरहित काव्य में वाच्य–आदि अर्थों के अपकर्षक ही दोष कहलाते हैं। अर्थात् जो चमत्कारी वाक्यार्थ की प्रतीति में बाधक होते है वे भी दोष हैं। एक तीसरे प्रकार के दोष हैं जो शब्द आदि के अपकर्षक होते है। क्योंकि वाक्य तथा पद **(षब्दयते बाध्यते अनेन इति शब्दः=वाक्य पद)** और आदि शब्द से ग्रहीत वर्ण एवं रचना आदि भी रस व्यंजना में सहायक होते हैं तथा अर्थ बोधक होते हैं इसलिए पद और वाक्य आदि में भी दोष होते हैं।

संक्षेप में मुख्यार्थ के अपकर्षक ही दोष कहलाते हैं, ये तीन प्रकार से मुख्यार्थ के अपकर्षक है–

1. साक्षात् रसभावादि के अपकर्षक
2. रसोपकारक वाच्य अर्थात् शब्द बोध्य अर्थ के अपकर्षक
3. रसादि तथा अर्थ के उपकारक जो पद, वाक्य, वर्ण रचना आदि हैं उनके अपकर्षक

प्राचीन काल से ही आलंड्कारिक आचार्य काव्य दोष का विवेचन करते रहे हैं। इस विवेचना का उद्देश्य यही था कि कवि लोग काव्य दोषों से परिचित हो जायें तथा काव्य में उनका परित्याग कर दे। **सौकर्याय प्रपंच।।** प्रायः आचार्यों ने दोषों के सामान्य स्वरूप का विवेचन न करके दोष विशेष का ही विवेचन किया था। सम्भवतः सर्वप्रथम वामन ने ही दोष सामान्य के विवेचन की ओर ध्यान दिया उनके अनुसार दोष का स्वरूप यह है–

''**गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।।**'' अर्थात् दोषों का स्वरूप गुणों के विपरीत हैं।

काव्य शरीर के स्थापित हो जाने पर काव्य सौन्दर्य को नष्ट करने के कारणी भूत दोषों के त्याग के लिए उन (दोषों) को जानना चाहिए; इससे (ग्रन्थकार) दोष का सामान्य लक्षण उपर्युक्त सूत्र में कहते है।

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने दोष के सामान्य रूप तथा भेदों का स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है, कहीं कहीं प्रसंड्गवश दोषों का उल्लेख अवश्य किया –

जैसे – **द्विविधो हि दोषः कवेरव्युत्पत्तिकृतः अषविकृतश्च।**

तत्रव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वादेव कदाचिन्नलक्ष्यते।

यस्त्वषक्तिकृतो दोषः सः झटिति प्रतीयते; ।।

ध्वनिकार के इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि ध्वनिवादियों ने गुण विपर्यय या गुणाभाव, रूप में दोषों को नहीं माना अपितु भावात्मक ही माना है। इसी हेतु आचार्य मम्मट ने काव्यत्व के अपकर्षक या विधातक को ही दोष बतलाया है।

---

(1) काव्यालंड्कार सूत्र 2/10/3

(2) काव्यालंड्कार सूत्र 2/1/1

अग्नि पुराण में दोष वर्णन अति संक्षिप्त रूप में दिया गया है जो इस प्रकार है–

सहृदयों के हृदय की उदिग्न (विक्षोभित) करने वाला तत्व काव्य दोष कहलाता है और यह वक्तृ, वाचक और वाच्य के भेद से सात प्रकार का होता हैं। प्रथम प्रकार का वक्तृ दोष कवि को ओर से ही होता है, इसके चार भेद है– संदिहान, अविनीत, सन्नज्ञ तथा ज्ञाता।

उद्वेगजन को दोषः सत्यानां स च सप्तधा।
वक्तृ वाचक वाच्यानामेक द्वित्रिनियोगतः।।
तत्र वक्ता कविर्नाम प्रथमे स च भेदतः।
संदिहानोऽविनीतः सज्ञो ज्ञाता चतुर्विध ।।[1]

निमित्त की परिभाषा में अर्थ का संस्पर्श देने वाले को वाचक दोष कहते है इसके दो भेद है –पद और वाक्य।

निमित्तपरिभाषाया मर्थसंस्पर्शिवाचकम्।
तद्भेदौ पदवाक्ये द्वे कथितं लक्षणं द्वयोः।।[2]

मम्मट का दोष लक्षण व्यापक हैं यह उत्तम, मध्यम तथा अधम तीनों प्रकार के काव्य के दोषों में घटित होता है। काव्य प्रकाश का ही दोष लक्षण ही अपनाया गया है तथा साहित्य दर्पणकार का दोष–लक्षण भी इससे स्पष्टतया प्रभावित दिखाई देता है किन्तु ''**रसायकर्षकाः दोषाः**'' इस लक्षण में काव्यप्रकाश के लक्षण जैसी व्यपकता नही है।

---

(1) अग्निपुराण 347/1–2
(2) अग्निपुराण 347/3

दोष वे हैं जो रस (काव्य के आत्म–तत्व) के अपकर्षक हुआ करते हैं। विश्वनाथ कविराज ने काव्य–स्वरूप–निरूपण की अपनी दृष्टिसे दोष का तत्व का निरूपण किया है। काव्य के रसात्मक वाक्य रूप होने के कारण काव्य के दोष रस के अपकर्षक तत्व ही हो सकते है। रस के अपकर्षक कारक तत्वों में 'साक्षात्' और परम्पर या रस के अपकर्ष का स्वभाव मानना युक्ति युक्त ही है। साक्षात् रस के अपकर्ष की ये तीन संभावनाएँ हैं–

(1) रस की प्रतीति का अभाव

(2) रस की विलम्ब से प्रतीति

(3) रस प्रतीति में चमत्कार की मात्राा की न्यूनता

इस दृष्टि से काव्य के परम हेय तत्व रसदोष ही सिद्ध होते हैं, रसदोष की उत्पत्ति कवि की अशक्ति से सम्बन्द्ध है। कवि की अव्युत्पत्ति भी काव्य के अपकर्ष का कारण है। इस अव्युत्पत्ति से उन दोषों का सम्बन्ध है तो परम्परया रस के अपकर्ष जनक तत्व हुआ करते हैं मानव के शरीर में काणत्व, खजत्व आदि की भॉति काव्य के शब्दार्थ शरीर में श्रुति कटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि दोष हुआ करते है और मानव के मूर्खत्व, अलसत्व आदि की भॉति काव्य के वे दोष हैं जिन्हे एक शब्द में रस दोष कहा जाता हैं।

दोष का स्वरूप

मम्मट ने दोष का स्वरूप इस प्रकार कहा है–''मुख्य अर्थ का अपकर्ष करने वाले तत्व दोष कहलाते हैं काव्य में रस ही मुख्य अर्थ है, अतः रस का अपकर्ष करने वाले तत्व दोष हैं, क्योंकि रस की अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ में भी हो सकते हैं।''

विश्वनाथ ने दोष का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि मम्मट से अधिक भिन्न नहीं है। उनके अनुसार –

''रस के अपकर्षक तत्व दोष हैं, इसके अनन्तर उन्होंने दोषों का विभाजन पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत, रसगत के रूप में किया है।

अलंड्कारवादी जयदेव ने दोष का लक्षण निम्न प्रकार से किये हैं –

''दोष वह होता है, जिसके द्वारा मन में उद्वेग उत्पन्न होता है, और काव्य की रमणीयता नष्ट होती है। यह दोष शब्द और अर्थ में रहता है।'' दोष के स्वरूप का निर्णय करते हुए उनके नियत्व पर भी विचार करना चाहिए। इससे आचार्यों ने इसके दो वर्ग किए है–नित्यदोष, अनित्यदोष। यह विभाजन रस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से किया गया है कुछ दोष ऐसे हैं जो सभी अवस्थाओं में दोष होते हैं–जैसे च्युति संस्कृति आदि दोष सदा दोष रहते हैं और वे नित्य दोष कहलाते हैं परन्तु कुछ दोष ऐसे हैं जो किन्ही रसों की अभिव्यक्ति में दोष न रहकर गुण बन जाते हैं। जैसे– श्रुतिकटु दोष आदि दोष है, जो श्रृंड्गार रस की अभिव्यक्ति में दोष है, परन्तु रौद्र रस की अभिव्यक्ति में वे गुण होते है; ये अनित्य दोष हैं।

दोषों का वर्गीकरण

मम्मट ने दोष को तीन प्रकार से विभाजित किया है– रसदोष, अर्थदोष, शब्ददोष तदनन्तर उन्होने शब्द दोष को भी तीन भागों में विभाजित किया है– पददोष, पदांश दोष और वाक्य दोष इस प्रकार मम्मट के दोषों को पॉच वर्गो में विभक्त करते है–

(1) पददोष (2) पदांशदोष (3) वाक्यदोष
(4) अर्थदोष (5) रसदोष

अलंड्कार शास्त्र में दोषों को पदगत मानते हुए भी इनका पृथक विवेचन किया हैं अतः इस प्रकरण में दोषों का वर्णन छः प्रकार से किया गया है जो इस प्रकार है–

(1) पददोष (2) पदांशदोष (3) वाक्यदोष
(4) अर्थदोष (5) रसदोष (6) अलंड्कार दोष

अग्निपुराण में दोष का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है–असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व। ये दोष पद दोष के अन्तर्गत आते है। शब्द शास्त्र अर्थात् व्याकरण की विरुद्धता को विद्वान असाधुत्व दोष कहते हैं।

असाधुत्वाप्रयुक्तत्वे द्वावेव पदनिग्रहौ।

शब्द शास्त्रविरुउद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्बुधाः।।[1]

विद्वानों से अरचित प्रयोग को दोष माना गया है, अर्थात् कवियों ने उसका प्रयोग न किया हो अग्निपुराण में अग्निदेव ने दोष को पॉच वर्गों में विभक्त किया है जो इस प्रकार हैं– छान्दसत्व, अविस्पष्ट, कष्टत्व, असामयिकत्व तथा ग्राम्यत्व।

व्युत्पन्नैरनिबद्धत्वम्प्रयुक्तत्व मुच्यते।

छान्द सत्वमविस्पष्टत्वं च कष्टत्वमेव च।।

तदसामयिकत्वं च ग्राम्यत्वं चेति प्चधा।

छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टम बोधतः।।[2]

(1) **पदोष** –काव्य दोषों के विशेष लक्षण कहते हैं – श्रुतिकटु आदि ''**पदं दुष्टं भवेत् अथ क्लिष्टादि समासगतमेव इति सम्बन्धः**'' मम्मट और विश्वनाथ इन दोनों आचार्यों ने पद दोषों के सोलह भेद प्रदर्शित किये हैं, क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार है –

(1) श्रुतिकटुदोष (2) च्युवृतसंस्कृति दोष (3) अप्रयुक्तदोष (4). असमर्थदोष (5) निहितार्थ दोष (6) अनुचितार्थ दोष (7) निरर्थक दोष (8) अवाचक (9) तीन प्रकार का (व्रीडा, निन्दा, अमंगल) अश्लील (10) सन्दिग्धदोष (11) अप्रतीतदोष (12) ग्राम्यदोष (13) नेयार्थदोष (14) क्लिष्टदोष (15) अविमृष्टाविधेयांशदोष (16) विरुद्धमतिकृत

---

(1) अग्निपुराण 347/4

(2) अग्निपुराण 347/5–6

अग्निपुराण के विवेच्य विषय का काव्यशास्त्र में कुछ दोषों को छोड़कर केवल तीन दोषों का विस्तारपूर्ण वर्णन किया है। वे दोष इस प्रकार के है– श्रुतिकटुदोष, च्युत संस्कृति दोष और निहितार्थ दोष।

काव्य में शब्द, अर्थ तथा रस की प्रतीति होती हैं, तथा काव्य लक्षण में भी शब्दार्थों में शब्द की प्राथमिकता है। अतएव पद दोषों का प्रथमतः निरूपण करते हैं यहाॅ पद शब्द से सुबन्त, तिङ्न्त तथा प्रातिपादिक का ग्रहण होता है।

श्रुतिकटु आदि शब्दों से यौगिक अर्थ के द्वारा (श्रुति अर्थात् श्रवण में कटु उद्वेगजनक) उनके स्वरूप या लक्षण का भी बोध होता है। अतएव इस कारिका में पददोषों का भाग तथा लक्षण एक साथ प्रकट कर दिया है, वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है, कि यह कारिका पद दोषों का विभाग करती है।

सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्य नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्।
अबिमृष्ट विधेयाषं विरुद्धमतिकृत समासगतमेव।।[1]

योगार्थ से या प्रसिद्धि से ही स्पष्ट होने के कारण प्रत्येक का लक्षण नही दिया गया है, आचार्यो ने जिसका स्पष्टीकरण समझा, उनका स्परूप दिखलाया गया है।

(क) **श्रुतिकटु दोष–** कठोर वर्णों का विन्यास होने के कारण जो पद कानों को कटु लगता है वहाॅ श्रुतिकटु दोष होता है जैसे–

अनङ्गमंङ्गल गृहा पाङ्ग भङ्गितरङ्गि तैः।
अलिङ्गितः स तन्वङ्गया कार्तार्थ्य लभते कदा।।[2]

---

(1) काव्यप्रकाश 7/51
(2) काव्यप्रकाश 7/141

यहॉ पर कामदेव के मंगल गृह रूपी कटाक्षों की भंङ्गिमा की तरंङ्गों से युक्त उस कुशांङ्गी रमणी के द्वारा आलिंङ्गित होकर वह (युवक) कब कृर्तार्थता को प्राप्त करेगा।

यहॉ पर कार्तार्थ्य पद श्रुतिकटु है। श्रुति कटु को वातन ने 'कष्ट' (**श्रुतिविरसंकष्टम्**) नाम दिया हैं तथा मम्मट के पश्चात् साहित्य दर्पणकार ने 'दुःश्रव' नाम से पुकारा है। उपर्युक्त उदाहरण में कार्तार्थ्य षब्द पररुवर्णयुक्त है। यह श्रोताओं के लिए उद्वेगजनक है तथा रसापकर्षक है, अतः यहॉ पर श्रुति कटु (दुष्टपद) है। दोष साक्षात् या परम्परया रस के अपकर्षक हैं, श्रुति कटुता श्रृङ्गार रस के आस्वादन में ही बाधक है अतएव श्रृंङ्गार वर्णन में दोष है।

(ख) **च्युतसंस्कृतिदोष**— यदि व्याकरण के नियम के विरुद्व किसी पद का प्रयोग किया गया हो तो वहॉ च्युतिसंस्कृतिदोष होता है। च्युतिस्ंस्कृति **(च्युता स्खलिता संस्कृतिः संस्कारः व्याकरणलक्षणानुगमः यत्र)** वह दुष्ट पद है जो (भाषा के संस्कार) व्याकरण के नियमों के विरूद्व हो, जैसे—

एतन्मन्दवियक्वतिन्दुकपल श्यामोदरापाण्डर।
प्रान्त हन्त पुलिन्दसुन्दर कर स्पर्ष क्षमं लक्ष्यते।।
तत् पल्लीपतिपुत्रि कुजरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना।
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुग पत्रावृंत या कृथाः।।[1]

''अरी पल्लीपति (छोटे ग्रामके स्वामी) की पुत्रि यह तेरा स्तनयुगल जिसका मध्यभाग (उदर) अधप के तेंदू फल के समान श्याम है तथा तट प्रवेश कुछ पतिवर्ण हैं शबर (पुलिन्द) युवक के सुन्दर हस्तमर्दन के योग्य दिखलाई देता है इसी हेतु अपने गण्डस्थल की रक्षा के लिए प्रार्थना में कातर होकर हस्ति समूह (तुझसे) यह याचना करता हैं कि इस स्तन युगल को पत्तों से आच्छादित मत करो (जिससे शबर युवक उस ओर आकर्षित हो जाये तथा हाथियों के गण्डस्थल की रक्षा हो सके।''

(1) काव्य प्रकाश 7/142

यहाँ ''अनुनाथते'' यह व्याकरण लक्षण विरूद्ध है, क्योंकि ''सर्पिषो नाथते'' आदि में आशी (अभिलाषा) में ही आशिषिनाथ (वार्तिक) से 'नाथ' धातु को आत्मने पद का विधान किया गया है किन्तु यहाँ पर याचना का अर्थ है (आशीः नही) इसलिए अनुनाथति स्तनयुगम् (परस्मैपद) यह पाठ होना चाहिए।

एतन्मन्दम् आदि में अनुनाथते (याचना करता है) यह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं अतः च्युत संस्कृति दोष है। 'नाथ' धातु केवल आशिष् अर्थ में ही आत्मनेपदी होती है। यह आशिषि नाथः कात्यायनकृत वार्तिक द्वारा नियम किया गया है यह वार्तिक ''**क्रीडोनपुंपरिभ्यष्च**''[1]

(ग)**निहितार्थ दोष**– ''**निहतार्थत्वमुभयार्थस्यशब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थेप्रयोगः**''[2] निहितार्थ वह दोष है जिसे किसी उभयार्थक पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग कहा गया हो। उदाहरण–

'' **यमुनाषम्बरमम्बरं व्यतानीत्**''

''यमुनाशम्बर (यमुना का जल) आकाश में व्याप्त हो गया''। यहाँ पर शम्बर शब्द में निहितार्थत्व स्पष्ट है कि, क्योकि इसे इसके अप्रसिद्ध जल रूप अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो कि इसके प्रसिद्ध दैत्यरूप अर्थ से (जो कि अनायास अविलम्ब प्रतीत हो उठता है।) तिरोहित अथवा तिरस्कृत हो रहा हैं।

पदों से प्रसिद्ध अप्रसिद्ध अर्थों का विवेक निहितार्थत्व दोष से बचने का उपाय है। कोशादि से पदों का चयन काव्य निर्माण के उपयुक्त नहीं है। क्योंकि कोशादि से यह पता चलना कठिन है कि किसी पद पद का कौन अर्थ प्रसिद्ध है और कौन अप्रसिद्ध अर्थ की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि तो लोक व्यवहार के ज्ञान से ही जानी जा सकती है।

---

(1) पाणिनि सूत्र 1/3/21

(2) साहित्य दर्पण 7/9

काव्यप्रकाशकार ने निहितार्थ दोष का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया है। अग्निपुराण में अग्निदेव निहितार्थ दोष का वर्णन नहीं किया है। निहितार्थ दोष वह दुष्ट पद है, जो (प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध अर्थ वाला होते हुए अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है जैसे–अलन्तक रस से आर्द्र चरणों के प्रहार द्वारा जिसके बाल कुछ कुछ लाल (शोणित) हो गए है ऐसे उस प्रिय ने नायिका को (रुधिर निकलने के) भय (साध्वस) से व्याकुल (तरला) तथा मुग्ध देखकर (भय दूर करने के लिए) सहसा उसका चुम्बन कर लिया।

यावक सार्द्रपाद प्रहारषोणित कचेन दयितेन।

मुग्धा साध्वस तरला बिलोक्य परिचुम्बिता सहसा।।[1]

यहॉ पर शोणित शब्द के रुधिर रूप प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा कुछ कुछ लाल रूप (उज्जवलीकृतत्व–ईशदारत्तीकृतत्व) अर्थ व्यवहित हो जाता है।

शोणित पद का प्रसिद्ध अर्थ रक्त या रुधिर है किन्तु यह यहॉ पर विवक्षित नही, शोणितपद कुछ–कुछ लाल अर्थ में निहितार्थ है। शब्द से प्रसिद्ध अर्थ की तुरन्त उपस्थिति होती है तत्पश्चात् अप्रसिद्ध (विवक्षित) अर्थ उपस्थित होता है उसकी प्रतीति में विलम्ब करने के कारण ही निहतार्थ पद दोष युक्त है।

(2) **वाक्य दोष** – अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थ निरर्थकम्।

वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांषेऽपि केचन।।[2]

(उपर्युक्त श्रुतिकटु आदि सोलह दोषों में से) च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक (इन दोषों) को छोड़कर शेष त्रयोदश दोष वाक्य में भी होते हैं तथा उन सोलह में से कुछ पदांश में भी होते है।

---

(1) काव्यप्रकाश 7/145

(2) काव्यप्रकाश 7/52

वाक्य दोष तेरह प्रकार के होते है, जो इस प्रकार हैं–

(1) श्रुतिकटुदोष (2) अप्रयुक्तदोष (3) निहतार्थ दोष (4) अनचितार्थ दोष (5). अवाचक (6) (तीन प्रकार की अश्लील, व्रीडा निन्दा अमंङ्गल) (7) संदिग्ध (8) अप्रतीत (9) ग्राम्य (10) नेयार्थ (11) क्लिष्ट (12) अविमृष्टविधेयांश (13) विरुद्धमतिकृत

उपर्युक्त कारिका में केचन अर्थात् सभी नही। अपास्यपद ''पदस्याशेऽपि केचन'' से सम्बन्ध नही है। अतः श्रुतिकटु आदि सभी सोलह दोषों में से कुछ पदांशगत भी होते हैं।

पददोष तथा वाक्यदोष का गम्भीर विवेचन काव्यप्रकाश में किया गया अन्यथा इसका वर्णन अन्य संस्कृत ग्रन्थ में नहीं मिलता है। संक्षेप में भाव यह है कि एक पद वृत्ति श्रुति कटु आदि पद दोष हैं। तथा अनेक पद वृत्ति, श्रुति कटु आदि वाक्य दोष हैं। व्याकरण द्वारा पदों का ही संस्कार होता है। अतएव च्युतसंस्कृति पद दोष है, यह वाक्य दोष में नहीं हो सकता। इसी प्रकार शाक्यार्थ की उपस्थिति न कराना अर्थात् असमर्थत्व तथा च आदि का केवल पादपूर्ति आदि के लिए प्रयोग अर्थात् निरर्थमत्व भी पद दोष है, वाक्य दोष नहीं।

उदाहरण–

''स्मरान्र्त्यन्धः कदालप्स्ये कार्त्तार्थ्य विरहे तव।।''[1]

जैसे कि– तेरे विरह में स्मरार्त्ति (कामपीड़ा) से अन्धे मुझे कब कार्तार्थ्य की प्राप्ति होगी।

यहॉ स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य की कर्ण कठोरता से सहृदय का हृदय उद्विग्न हो उठता है और विरही प्रमी की प्रमी भावना का स्पर्श भी नहीं करना चाहता।

---

(1) साहित्यदर्पण 7/1

ऊपर पद, वाक्य तथा पदैक देश में समान रूप से होने वाले दोषों का विवेचन किया गया है। यहॉ पर वाक्य मात्रगत दोषों का उल्लेख किया जा रहा है। जो निम्न है–

प्रतिकूलवर्ण दोष (तथा दुष्टमित्यर्थः) वाक्य ही होता है–

(1) प्रतिकूलवर्णदोष (2) उपहतविसर्ग (3) लुप्तविसर्ग (4) विसन्धि (5) हतवृत्त (6) न्यूनपद (7) अधिकपद (8) कथितपद (9) पतत्प्रकर्ष (10) समाप्तपुनरान्त (11) अर्धान्तरैकवाचक (12) अभवन्मतयोग (13) अनकभहितवाच्य (14) अपदस्थपद (15) अपदस्थसमास (16) संङ्कीर्ण (17) गर्भित (18) प्रसिद्धिहत (19) भग्नप्रक्रम (20) अक्रम (21) अमतपरार्थ

प्रतिकूलवर्णत्वादि वाक्य में ही रस आदि के अपकर्षक होते हैं। अतएव ये वाक्य दोष ही हैं इसके स्वरूप तथा उदाहरण इस प्रकार हैं, साहित्यदर्पणकार ने विसन्धि के सन्धि विश्लेषण, सन्ध्यश्लीलत्व और सन्धिकष्टत्व नाम से तीन भेद करके वाक्य दोषों की संख्या तेईस कर दी है।

(क) **प्रतिकूलवर्णता दोष** – वर्णों की रसानुकूलता अर्थात् कौन वर्ण किस रस के अनुकूल है उसके विपरीत (अर्थात् रसास्वाद के उद्‌बोध का प्रतिबन्धक) प्रतिकूलवर्ण (प्रतिकूलाः वर्णाः यत्र वाक्ये तत्) वाक्य होता है। जैसे– श्रृङ्गार में (नायिका से मिलन के लिए उत्सुक नायक की सखी के प्रति उक्ति है)

हे मधुर कण्ठवाली; बाधारहित, उत्कण्ठा से कण्ठ तक भरे हुए मुझको उस शंङ्ख के समान कण्ठवाली नायिका के गले, क्षण भर की मिला दे और मेरे कण्ठ की (आलिंङ्गन की उत्कण्ठा रूप) पीड़ा को दूर कर दे।

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठयाः क्षणं कण्ठे कुरू कण्ठार्तिमुद्धर।।[1]

(1) काव्यप्रकाश 7/207

रौद्र रस में (प्रतिकूलवर्णता) जैसे– वेणीसंहार में क्रुद्ध अश्वत्थामा की कर्ण के प्रति उक्ति–

यह वही देश है, जिसमें शत्रुओं के रुधिर रूपी जल से (परशुराम ने) पंचताल भर दिए थे, अब क्षत्रिय (घृष्टधुम्न) के द्वारा मेरे पिता (द्रोणाचार्य) का केशाकर्षण रूप वैसा (जैसा कीर्तवीर्य के द्वारा) जमदग्नि का ही अनादर किया गया है, शत्रुओं के अस्त्रों (हेतयः) के भक्षक (घस्मर) अतएव श्रेष्ठ (गुरुणि) तथा दीप्तिमान मेरे (ब्रह्मास्त्र आदि) अस्त्र भी वे ही है (जो मेरे पिता परशुराम से प्राप्त किए) इसलिए द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा क्रोधयुक्त होकर वही कर रहा है जो (क्षत्रिय विनाश) परशुराम ने किया था।

देशः सोऽयमरातिषोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाःशरिताः।
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।।
तान्येवाहितहेतिधस्मरगुरुण्यस्त्राणि भास्वान्ति मे।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः।।[1]

प्रतिकूलवर्णत्व का कौन सा वर्ण किस रस के अनुकूल है। उसके विपरीत जो वर्ण किसी रस के प्रतिकूल है अर्थात् रसास्वाद के उद्‌बोध में प्रति बन्धक है, वे ही प्रतिकूल वर्ण है। ऐसे वर्ण जिस वाक्य में होते हैं वह वाक्य दोष युक्त होता है। अतः वह प्रतिकूल वर्ण (प्रतिकूलाः वर्णाः यत्र) अथवा उसमें प्रतिकूलवर्णत्व वाक्य दोष है। यद्यपि एक पद में भी कोई प्रतिकूल वर्ण होता है तथापि यह वाक्य दोष ही माना जाता है, क्योंकि प्रतिकूल वर्णत्व वाक्यगत रूप में ही रस का प्रतिबन्धक होता है, किन्तु प्रतिकूलवर्णदोष सरसकाव्य में ही होता है। अकुष्ठ इत्यादि उदाहरण में ट वर्ग का प्रयोग श्रृंङ्गाररस के प्रतिकूल है। श्रृंङ्गार के अनुसार यहाँ कोमल वर्णो का प्रयोग ही उचित हैं, अतः ओज व्यंजक उकारादि वर्ण श्रृंङ्गार व्यंजन में प्रतिबन्धक है और प्रतिकूलवर्णत्व दोष है।

देशः इत्यादि में रौद्र रस व्यंङ्ग्य है, रौद्र रस के परिपोष में विकट वर्ण तथा दीर्घ समास सहायक हैं। जैसे प्राग प्राप्त इत्यादि पद्य के पादत्रय में

विकट वर्ण तथा दीर्घ समास का प्रयोग किया गया है, किन्तु चतुर्थ पाद में क्रोध का वर्णन नही है। अतः उस प्रकार के वर्ण तथा रचना आदि नहीं है। इसके विपरीत देशः इत्यादि में मृदुवर्णों का प्रयोग है जो रौद्ररस के प्रतिकूल है अतः प्रतिकूल वर्णत्व दोष है।

(ख) **न्यूनपदता दोष**– वाक्य में अभिप्रेत अर्थ के वाचक किसी पद का न होना न्यूनपद दोष है। जैसे–

''यदि मय्यार्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा।
अत्र प्रथमे त्वयेति पदं न्यूनम्।।''

यदि (आपने) मेरी ओर कृपा दृष्टि की तो मुझे इन्द्र के पद की भी कोई चिन्ता नहीं।

यहॉ पर (यदि मय्यर्पिता दृष्टिः इस) प्रथम चरण में त्वया पद की कमी रह गई है जिससे इसमें न्यूनपदत्व दोष है।

उदाहरण–

तथा भूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाचालतनयां।
वने व्याधैः सार्ध सुचिर मुषितं वल्कल धरैः।।
विराट स्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं।
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुष।।[1]

तथा भूता इत्यादि उपर्युक्त उदाहरण से यहॉ पर प्रथम तीन चरणों में अस्माभि : यह पद तथा (चतुर्थ चरण में) खिन्ने इस पद से पूर्व इत्थं यह पद न्यून हैं।

---

(1) काव्यप्रकाश 7/220

जिस वाक्य में विवक्षित अर्थ के वाचक किसी शब्द का अप्रयोग होता है वह न्यूनपद है **(न्यूनम् अनुपान्तविवक्षितार्थकं पदं वाचक शब्दोयत्र)** तथा भूतां इत्यादि में वल्कलधरैः के विशेष्यरूप में तथा उपितम् स्थितम् आदि के कर्तृरूप में अन्वित होने के लिए अस्माभिः पद की आवश्यकता है। इसी प्रकार चतुर्थ चरण में भी (एक वाक्यता करने के लिए) खिन्ने से पूर्व इत्थ का प्रयोग आवश्यक है।

(ग) **अधिकपदता दोष–** अभिप्रेत अर्थ के वाचक पदों से अतिरिक्त अनावश्यक पद का प्रयोग करना अधिक पद है, इस प्रकार वाक्य अधिक पद दोष से दूषित होता है। जैसे–

(किसी विद्वान का वर्णन है) वह ऐसा कोई महापुरुष है जो स्फटिक की आकृति के समान निर्मल (चित्त) है। जिसके हृदय में गूढ़ (निशात) शास्त्रों का तत्व भली भॉति (प्रकार्म) प्रति विम्बित हो गया है जिसकी उक्तियों तथा युक्तियॉ (लोकशास्त्रादि) से अवरुद्ध तथा परस्पर समन्वित होती हैं, जिससे प्रतिवादियों का पराभव हो जाता है (अस्तमयोदयः) यहॉ पर आकृति शब्द अधिक है।

स्फटिकाकृति निर्मलः प्रकामं प्रति संक्रान्तनिषातषास्त्रतत्वः।
अविरुद्ध समन्वितोक्तियुक्तिः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि।।[1]

अधिकपदत्व का यह भी स्पष्ट उदाहरण है–

वाचमुवाच कौत्सः

अत्र वाचमित्यधिकम् उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वाद्।
कृचिन्तु विषेषणदानार्थं तत्प्रयोगो युज्जते।।[2]

(1) काव्यप्रकाश 7/221

(2) रघुवंश पंचम सर्ग

कौत्स वचन बोले– यहाँ वाचम पद अधिक हैं क्योंकि उवाच पद के प्रयोग से ही वचन के उच्चारण का अभिप्राय निकल जाता है । किन्तु कभी–कभी विशलेषण के प्रयोग की सार्थकता के लिए इस पद का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। जैसे कि–

'' **मधुरां वाचम् इति।''**

वह बडा मीठा वचन बोला किन्तु यहाँ कतिपय आचार्य (काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट अधिक पदत्व ही मानते हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि यदि विशेषण (जैसे कि उवाच मधुरां वाचम् में मधुराम् पद) को क्रिया विशेषण (उवाच मधुरं धीमान् में मधुरम्पद) के रूप में व्यवहृत किया जाय तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि वाचम् आदि पद अधिक है और प्रयोग योग्य नहीं है इसलिए उवाच मधुरं धीमान् आदि वाक्य निर्दुष्ट है (क्योंकि यहां कोई पद अनुपयुक्त होने से अधिक नहीं है)

(3) **अर्थ दोष**– काव्य में वाच्य अर्थ के दोष युक्त होने पर अर्थ दोष होता है। मम्मट और विश्वनाथ दोनों में तेईस अर्थ दोषों का वर्णन किया है। साहित्य दर्पणकार ने भी तेईस दोष स्वीकार किए हैं। परन्तु अग्निपुराण में अर्थ दोष दो प्रकार के होते है– साधारण और प्रतिष्ठिक। सर्वत्र प्रचिलत उपालम्भ साधारण दोष कहलाता है, इसके पांच भेद किए हैं–

(1) क्रियाभ्रंश (2) कारकभ्रंस (3) विसंन्धि (4) पुनरुक्तता (5) व्यस्त–सम्बन्धिता।

अग्निपुराण में अर्थ दोषों का वर्णन अतिसंक्षिप्त रूप में किया गया है और इसका विस्तृत विवेचन काव्य प्रकाश में मिलता है। जो इस प्रकार है अर्थ दोष तेईस प्रकार के है–

(1) अपुष्ट (2) कष्ट (3) व्याहृत (4) पुनरुक्त (5) दुष्क्रम (6) ग्राम्य (7) सन्दिग्ध (8) निर्हेतु (9) प्रसिद्धविरुद्ध (10) विद्याविरुद्ध (11) अनवीकृत (12) सनियमपरिवृत (13) अनियमपरिवृत (14) विशेषपरिवृत (15) अविशेषपरिवृत

(16) साकाड्क्ष (17) अपदयुक्त (18). सहचरभिन्न (19) प्रकाशितविरुद्ध (20) विध्ययुक्त (21) अनुवादायुक्त (22). त्यक्त पुनः स्वीकृत (23) अश्लील अर्थ दुष्ट दोष युक्त होता है।

शब्द और वाक्य से अर्थ प्रतीति होती है अतएव पद दोष तथा वाक्य दोष के पश्चात् व्यर्थ दोष का निरूपण किया जा रहा है, यहॉ भी (पद दोषों के समान) अपुष्ट इत्यादि रूढ़ि शब्द के रूप में दुष्ट अर्थ की संज्ञाएं हैं तथा यौगिक अर्थ के द्वारा लक्षण वाक्य का कार्य करते है। जैसे– पुष्ट से भिन्न (पुष्टाद् भिन्नः) अर्थ अपुष्ट कहलाता है।

(क) **कष्टार्थ दोष–** जब कोई अर्थ अतिकठिनाई से समझ में आता है तो कष्ट दोष होता है (स्वकाव्य के सम्बन्ध में किसी कवि की उक्ति है) प्रकृत अर्थ कवियों के काव्य रूप जिन अभिप्रायों के मध्य में सदा अमृत बहाने वाली तथा उत्तम (श्रृङ्गारादि) रसों से युक्त, प्रौढ़ (वैदर्भी गौडी, पांचाली) अनेक (तीन) मार्गों वाली सरस्वती काव्य रूप वाणी चमत्कार (परिमल) उत्पन्न करती है, वे महाकवियों के काव्य रूप अभिप्राय (रुचयः) जो अत्यन्त अभ्यस्त है, अनुभवारूढ़ होकर अभीष्ट हो गए हैं (स्फुरितमधुराः) महाकाव्य गगन से किस प्रकार अन्य काव्य के समान सुबोध हो सकते हैं।

सदा मध्ये यासामियममृत निस्यन्दसुरसा।
सरस्वत्युद्दामा वहति वहुमार्गा परिमलम्।।
प्रसादं ता एता धनपरिचिताः केन महाताम्।
महाकाव्य व्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः।।[1]

जिन आदित्य प्रभाओं के मध्य में जल प्रवाहित करने वाली सुमधुरा सुरसा महताी त्रिपथगामिनी गंड्गा नदी (सरस्वती= नदी) सुगन्ध (परिमल) को लेकर बहती है वे ये प्रकाश से मधुर द्वादश आदित्यों की महती प्रभाएँ महाकाव्य– सदृश आकाश से मेघयुक्त होकर किस प्रकार निर्मलता (प्रसाद) को प्राप्त हो सकती है।

यहॉ पर संक्षेप में जिन कवि रुचियों के मध्य में सुकुमार विचित्र तथा मध्यम (कुन्तक प्रतिवादिता अथवा वैदर्भी गौड़ी तथा पांचाली) तीन मार्गों वाली भारती चमत्कार उत्पन करती है, गम्भीर वाक्यों से परिचित वे अन्य कवियों के समान सुबोध कैसे हो सकती हैं, यह (प्रकृत) तथा जिन आदित्य प्रभावों के मध्य में आकाश गंड्गा बहती है वे मेघों से आच्छादित होकर कैसे स्वच्छ हो सकती है, यह (अप्रकृत) अर्थ है।

कष्ट का अर्थ है जिसकी प्रतीति में क्लेश होता है अर्थात् दुरूह अर्थ। ऊपर के पद्य में दुरूह अर्थ ही है जिसे ग्रन्थकार ने अत्र–संक्षेपार्थः अवतरण में संक्षेपतः दिखलाया गया हैं। इस पद्य का यही विवक्षित अर्थ है जो अन्य शब्दों की योजना करके भी क्लेश पूर्वक प्रतीत होता है, अतः यहॉ अर्थ ही दोषयुक्त क्लिष्टत्व में शब्द ही दोषयुक्त होते है।

(ख) **व्याहृत दोष–** पहले किसी वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाकर पुनः उसका अपकर्ष या उत्कर्ष दिखाया व्याहृत दोष है। जैसे–

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः।
प्रकृति मधुराः सन्त्ये वान्ये मनो मदयन्ति ये।।
मम तु यदियं याता लोके विलोचन चन्द्रिका।
नयन विषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः।।[1]

(मालतीमाधव प्रकरण में माधव की उक्ति) जो नव इन्टुकला आदि पदार्थ (भावाः) है वे संसार में ही उत्कृष्ट है (मेरे प्रति नहीं) और जो अन्य पदार्थ मन को हर्षयुक्त करते है वे भी संसार में स्वभाव से रमणीय हैं मेरे लिये तो संसार में यह (मालती) ही नेत्रों की चॉदनी (आह्लादिका) है और जो यह दृष्टिगोचर हुई है वही एक (इस) जन्म में महोत्सव है।

---

(1) काव्यप्रकाश 7/257

यहाॅ पर इन्दुकला आदि जिस (माधव) के प्रति तुच्छप्राय (पस्पशप्रायाः) है वही (मालती में) उत्कर्ष हेतु चन्द्रिकात्व का आरोप करता है।

व्याहृत अर्थ का अभिप्राय है परस्पर विरोधी व्यर्थ किसी की निन्दा या प्रशंसा करके फिर अन्यथा रूप में कहना।

कहा भी है–

उत्कर्षो, वावकर्षो वा प्राग्यस्यैव निगद्यते तस्यैव तदन्यष्चेद् व्याहतोऽर्थ स्तदा भवेत्।।

उपर्युक्त पद्य में पूर्वार्द्ध में चन्द्रकला आदि का माधव की दृष्टि से अपकर्ष दिखलाया गया है किन्तु उत्तरार्द्ध में वही माधव उत्कर्ष प्रकट करने के लिये मालती का चन्द्रिकारूप में वर्णन करता है, अतएव यहाॅ व्याहत अर्थ है।

(ग) **अनवीकृत दोष**– एक ही पद को बिना किसी नवीनता या चमत्कार के पुनः प्रस्तुत करना अनवीकृत दोष है।

उदाहरण 1– सदाचरति रवे भानुः सदा वहति मारुतः।
सदाधन्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः।।[1]

सूर्य सदा आकाश में विचरण करता है, वायु सदा बहती रहती है, शेषनाग सदा पृथ्वी का भार वहन किया करते हैं और गम्भीर स्वभाव के लोग सदा आत्मश्लाघा पराङ्मुख हुआ करते हैं।

यहाॅ अनवीकृत है क्योंकि प्रत्येक बार सदा के प्रयोग से चारों चरणों के अर्थ विचित्रता और नवीनता से शून्य लग रहे है।

उदाहरण 2– (वैराग्यशतक में भर्तृहरि की उक्ति) सकल मनोरथ प्रदान करने वाली सम्पदाएॅ प्राप्त कर ली तो क्या? शत्रुओं के सिर पर चरण रख दिया तो क्या? मित्रादि प्रियजनों को धन–सम्पत्ति से तृप्त कर दिया तो क्या? शरीरधारियों के शरीर कल्पपर्यन्त स्थित रहे तो क्या?

---

(1) साहित्यदर्पण 7/7

प्राप्तः श्रियः सकलकाम टुघास्ततःकिं।
दन्तं पदं षिरसि विद्विषता ततः किम्।।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विणवैस्ततः किं।
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्।।[1]

यहॉ पर ततः किम् (तो क्या? बार बार कहा जाने से) अनवीकृत है वह (नवीकृत अर्थ) तो इस प्रकार होता है जैसे–

यदि अग्नि जलाती है तो क्या आश्चर्य है? यदि पर्वतों में गुरुत्व है, तो क्या? महासागर का जल भी सदा खारा होता है (अतः वह भी स्वाभाविक है) इसी प्रकार सज्जनों का खिन्न न होना स्वाभाव ही है।

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतंयदि च गौरवमद्रिषु किंततुः।
लवण मम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता।।[2]

अनवीकृत वह अर्थ है, जिसका एक भंङ्गिमा से ही निर्देश किया गया हो अर्थात् प्रकारान्तर से कथन करके नवीनता उत्पन्न न की गई हो। इससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है तथा सहृदयो के मन में उद्विग्नता हो जाती है। प्राप्ताः श्रियः इत्यादि काव्य में एक अर्थ के कथन का सर्वत्र एक ही प्रकार है। अतः यहॉ अनवीकृत अर्थ है। किन्तु यदि दहति इत्यादि काव्य में एक ही आश्चर्या भावरूप अर्थ को किमद्भुतम् किंतत् सदैव और प्रकृतिरेव इस प्रकार भंङ्गिभेद से कहा गया है अतएव यहॉ अनवीकृत अर्थ है।

---

(1) काव्यप्रकाश 7/271

(2) काव्यप्रकाश 7/272

(4) **रसदोष** — रसदोषों का निरूपण आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में किया है, परन्तु वह निरूपण अधिक व्यवस्थित और सुसंगठित नहीं है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रस दोषों विवेचन अधिक व्यवस्थित और तर्कसंङ्गत रूप में किया है। मम्मट ने तेरह रस दोषों का उल्लेख अपनी कारिकाओ में किया है। परन्तु विश्वनाथ ने चौदह रस दोष बताए हैं, विश्वनाथ ने चौदहवॉ रस दोष अर्थानौचित्य को ध्वन्यालोककार ने रस दोष (रसभंङ्ग) का एक मात्र कारण कहा है। मम्मट ने अपनी कारिकाओ में "**रसे दोषास्युरीदृषा**" कह कर इस दोष को प्रकट किया है तथा तेरह या चौदह रस दोषों का वर्णन करके ध्वन्यालोककार की अर्थानैाचित्य विषयक उक्ति को उद्धतकर इस दोष को रसभंग का कारण माना है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने रस दोषों का विस्तार से विवेचन नहीं किया। केवल विरोधी रसभावादिकों का दिग्दर्शन मात्र कराया है। जैसे —

विरोधिरससम्बन्धिविभावा दिपारिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।।
अकाण्ड एवं विच्छित्तिर काण्डे च प्रकाषनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम्।।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च ।[1]

इस रसभावादिविषयक विरोध वर्णन का शास्त्रीय विश्लेषण ही काव्यप्रकाश में रस दोष के रूप में निपरूपित किया गया है। यह आचार्य मम्मट की साहित्य शास्त्र को एक विशेष देन है।

---

(1) ध्वन्यालोक 3, 18, 19

कविराज विश्वनाथ ने भी प्रायः इसी प्रकार रस दोषों का निर्देश किया है किन्तु उन्होने ''**अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः**''[1] यह कहते हुए एक अतिरिक्त रस दोष को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार रस दोष चतुर्दश हो जाते है वस्तुतः यहॉ अथानौचित्यम् अन्यत्च यह पाठ है जिसका अर्थ है– ''**अथ अन्यत् अन्यप्रकार मनौचित्यं च**'' अन्य प्रकार के समस्त रस विषयक अनौचित्य का संग्रह हो जाता है। कविराज विश्वनाथ की इस कल्पना का बीज भी काव्यप्रकाश में निहित है। आचार्य मम्मट के ''**रस दोषा स्युरीद्वषाः**'' इस कथन से यही प्रतीत होता है कि परिगणित त्रयोदश दोषों के अतिरिक्त अन्य भी रस के अपकर्षक है वे भी रस दोष हैं। रस समबन्धी दोषों का निरूपण किया जा रहा है–

(1) रस की स्वशब्द वाच्यता– रसस्य स्वशब्द वाच्यत्वम्

(2) स्थायीभाव की स्वशब्द वाच्यता– स्थायिनः स्वशब्दवाच्यत्वम्

(3) व्यभिचारी भाव की स्वशब्द वाच्यता– संचारिणः स्वशब्द वाच्यत्वम्

(4) प्रकृतरस–विरुद्धविभावादियोजना– परिपन्थिरसाङ्‌ग ग्रहणम्

(5) अनुभाव की कष्ट कल्पना– कष्टान्क्षिप्तानुभावत्वम्

(6) विभाव की कष्ट कल्पना– कष्टान्क्षिप्तविभावत्वम्

(7) अकाण्ड में रस विस्तार– अकाण्डे रसप्रथनम्

(8) अकाण्ड में रसच्छेद– अकाण्डे रसच्छेदः

(9) पुनः पुनः रसदीप्ति– पुनः पुनः रसो दीप्तिः

(10) अंङ्‌गी रस का अननुसंधान – आंङ्‌गिरसाननुसंधानम्

(11) प्रकृत रस के अनुपकारकका– अनंङ्‌गरसकीर्तनम् अति विस्तृत वर्णन

(12) अंङ्‌गभूत रस भावादि काअतिविस्तार– अंङ्‌गरसातिविस्तृतिः

(13) प्रकृति– विवर्यय

(14) अर्थानौचित्य

(क) **नित्यदोष** – पहले यह संङ्‌केत किया जा चुका है कि प्राचीन आचार्यों ने दोषों में नित्यत्व और अनित्यत्व की व्यवस्था की है। कुछ दोष

किन्ही विशेष अवस्थाओं में दोष नहीं रहते इस दोष को संक्षेप में निर्देश करना उचित होगा।

(1) **सभी दोषों की निर्दोषिता** – आचायों का कथन हैं कि जब कवि किसी वक्ता द्वारा दोष युक्त पदों का प्रयोग अनुकरण के रूप में करता है तो वह दोष नहीं रहता।

(2) **दुःश्रवत्व दोष अदोषत्व** – क्रोध के आवेश से युक्त वक्ता की वर्ण्य विषय औद्वत्य की और रसों की अभिव्यक्ति की अवस्था में दुःश्रवत्व दोष को दोष न समझकर गुण ही समझना चाहिए।

(3) **अश्लील दोष का अदोषत्व** – काम, गोष्ठी आदि की परिस्थिति में अश्लील दोष भी दोष रहकर गुण हो जाता है।

(4) **अप्रयुक्तत्व दोष का अदोषत्व** – श्लेश आदि की अवस्था में अप्रयुक्तत्व दोष को भी नही करना चाहिए।

(5) **निहतार्थत्व दोष का अदोषत्व** – श्लेश आदि की अवस्था में निहतार्थत्व दोष भी दोष नहीं रहता।

(6) **प्रतीतत्व दोष का अदोषत्व** – वक्ता और श्रोता दोनों यदि विषय के ज्ञाता हों एवं विद्वान वक्ता स्वयं परामर्श कर रहा हो तो अप्रतीतत्व दोष भी दोष न होकर गुण होता है।

(7) **कथितपदत्व दोष का अदोषत्व** – निम्नपरिस्थितियों में कथित पदत्व दोष न रहकर गुण प्रतीत होता है।

(क) उद्वेश्य का निर्देश करने में (ख) विषाद में

(ग) विस्मय में (घ) क्रोध में

(ङ.) दीनता में (च) लाटानुप्रास में

(छ) अनुकम्पा में (ज) किसी के प्रति कृपा करने में

(झ) अर्थान्तरसंङ्क्रमित वाच्य में (ञ) हर्ष में

(ट) विषय का निश्चय करने में

(8) **सन्दिग्ध दोष का अदोषत्व** – यदि वाच्य की समाप्ति व्याजस्तुति में हो रही हो तो सन्धिग्धत्व दोष भी गुण हो जाता है।

(9) **कष्टत्व दोष** – यदि वक्ता और श्रोता दोनों को वैयाकरण होने का अभिमान हो तो कष्टत्व या दुःश्रवत्स दोष नहीं समझा जाता।

(10) **ग्राम्यत्व दोष** – अधम पुरुषों की उक्तियों में ग्राम्यत्व दोष माना जाता है।

(11) **निर्हेतुत्व दोष का अदोषत्व** – प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता दोष नहीं है।

(12) **ख्यातिविरुद्धता दोष का अदोषत्व** – कवि समय की प्रसिद्धियों के प्रसंङ्ग में ख्यातविरुद्धता दोष न रहकर गुण हो जाती हैं इन कवि प्रसिद्धियों का विस्तृत वर्णन साहित्यदर्पणाकार ने किया है।

(13) **पुनरुक्त दोष का अदोषत्व** – कतिपय पदों में पुनरुक्त दोष को दोष नहीं माना जाता जैसा कि ज्या आदि पदो के लिए धनुर्ज्या आदि पदों का प्रयोग किया जा सकता है।

(14) **न्यूनपदत्व दोष का अदोषत्व**– आनन्द विभोर या शोक में मग्न आदि व्यक्तियों की उक्तियों में न्यूनपदत्व को दोष नहीं माना जाता है।

(15) **अधिकपदत्व दोष का अदोषत्व** – अनेक स्थानों में अधिकपदत्व दोष न रहकर गुण प्रतीत होता है।

(16) **समाप्तपुनरात्तत्व दोष का अदोषत्व** – समाप्तषुनरात्तत्व दोष भी कहीं तो न तो दोष होता है और न गुण होता है।

(17) **गर्भितत्व दोष का अदोषत्व** – गर्भितत्व दोष भी कहीं गुण हो जाता है

(18) **पतत्प्रकर्ष दोष का अदोषत्व** – पतत्प्रकर्ष दोष भी कहीं–कहीं गुण हो जाता है।

रसगत दोष का अनित्य दोष – पहले जो चौदह रस दोष कहे गए हैं। वे सभी व्यवस्थाओं में दोष नहीं रहते, किन्तु विशेष अवस्थाओं में उनमें दोषत्व न रहकर गुणत्व ही होता है। पहले कहा जा चुका है कि अनौचित्य रस भंङ्ग का सबसे बड़ा कारण है, यदि विशेष अवस्थाओं में रस के औचित्य

का भंङ्ग नहीं होता तो वहॉ रस दोष नहीं होंगे निम्न अवस्थाओं में रस दोषों में दोषत्व नहीं रहता।

(1) यदि विभावों और अनुभावों द्वारा किसी व्यभिचारी भाव की उचित रूप से (विशदरूप से) प्रतीति न होती तो व्यभिचारी भाव के स्वशब्द वाच्य होने पर भी वहॉ दोष नहीं होता।

(2) प्राकृत रस के विरुद्ध विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का बाध्यत्व रूप से कथन करना दोष न होकर गुण ही होता है।

(3) निम्न अवस्थाओं में परस्पर विरोधी रसों का वर्णन करने में भी दोष नहीं रहता।

(क) प्रकृत रस के विरोधी रस का स्मर्यमाण रूप से वर्णन करना।

(ख) विरोधी रस का साम्य रूप से विवक्षित होना।

(ग) दो विरोधी रसों का किसी तीसरे प्रधान रस का अंङ्गभूत हो जाना।

(4) निम्न उपायों से रसों के विरोध रूप दोष का परिहार किया जा सकता है –

(क) जो रस आश्रय के ऐक्य से विरोधी है उनका भिन्न आश्रय में वर्णन करके विरोध को दूर किया जा सकता है।

(ख) जो रस निरन्तरता में रखे जाने के कारण विरोधी होते है उनके मध्य में अविरोधी रस का आयोजन करके यह दोष दूर किया जा सकता है।

मम्मट आदि आचार्यों का कथन है–

''काव्य में दोष नियत नहीं है, कोई भी दोष सभी व्यवस्थाओं में दोष नहीं रहता, कवि अपनी प्रतिभा से दोषों को भी गुणों में परिणत कर सकता है।''

मम्मट और विश्वनाथ ने अनेक दोषों की उन अवस्थाओं का वर्णन किया हैं, जबकि वे दोष न रहकर गुण हो जाते हैं। विश्वनाथ का कथन है कि विद्वान मनुष्य औचित्य की दृष्टि से दोषों में भी अदोषता, गुणता को समझ सकते हैं।

छान्दसत्व अविस्पृष्टत्व आदि दोषों का कथन – छान्दसत्व दोष का वर्णन अन्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर अग्निपुराण में ही मिलता है अन्यत्र कहीं नहीं।

छान्दसत्व दोष वहॉ होता है जहॉ कोई ऐसा प्रयोग दिखाई दे जो केवल वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होता हो, भाषा अर्थात् लौकिक साहित्य में उसका प्रयोग न होता हो। शब्द के अर्थ का अबोध अविस्पृष्ट दोष कहलाता हैं।

छान्द सत्वमविस्पष्ट्त्वं च कष्टत्वमेव च।
तद सामायिकत्वं च ग्राम्यत्वं चति पंच्धा
छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टमबोधतः।।[1]

इसके तीन भेद होते हैं –

(1) गूढ़ार्धता (2) विपर्यस्तार्थता (3) संशयितार्थता

गूढ़ार्थता दोष – वहॉ होता हैं, जहॉ किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान कटसाध्य हो वहॉ पर गूढ़ार्धता दोष होता है।

विपर्यस्तार्थता –जहॉ पर अभीष्ठ अर्थ से विपरीत किसी अन्य अर्थ की धुंधली सी अथवा अस्पष्ट प्रतीत हो वहां पर विपर्यस्तार्थता दोष होता है।

गूढ़ार्थता विपर्यस्तार्थता संशयितार्थता।
अविस्पष्टार्थता भेदास्तत्र गूढार्थतेति सा।।
यत्रार्थो दुःखसंवेद्ये विपर्यस्तार्थता पुनः।
विवक्षितान्य शब्दार्थ प्रतिपत्तिमलीयसा।।[2]

---

(1) अग्निपुराण 347 / 15–16

(2) अग्निपुराण 347 / 7–8

संषयितार्थता – जहॉ वास्तविक अर्थ की जानकारी न हो सके और पाठक दो अर्थों की संदेहजन्य द्विविधा में ही रह जाय वहॉ संशयितार्थता दोष होता है।

अन्यार्थत्वासमर्थत्वे एतामेवोपसर्वतः।

संदिह्यमान वाच्यत्वमाहुः संशयितार्थताम्।।[1]

विसन्धि आदि दोषों का कथन उनका ल़क्षण कथन – अग्निपुराण में विसन्धि सन्धि का अति संक्षिप्त रूप में वर्णन मिलता है। जो इस प्रकार है– विगर्ता सन्धिता से भी कोई हानि नहीं होती दुर्वचन आदि में कठिन पाठ के कारण विसन्धिता दोष नहीं रहता।

प्रगृह्ये ग्रह्यते नैव क्षतं विगतसंधिा।

कष्ट पाठा द्विसंधित्व दुर्वचादौ न दुर्भगम्।।

विसन्धि सन्धेर्वेरूप्यम् विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।[2]

सन्धि का वैरूप्य (भद्दापन) विसन्धि (दोष) है, वैरूप्य तीन प्रकार का है, अर्थात्–

क) सन्धि का अभाव (विश्लेष)

(ख) अश्लीलता और

(ग) श्रुतिकटुता (कष्टत्व)

इनमें से प्रथम (विष्लेश) सन्धि वैरूप्य है जैसे–

हे राजन् आपके चरित शोभायमान है जो पाताल (गम्भीर प्रदेश) के भीतर भी चन्द्रमा की द्युति को धारण करते हैं। आपकी बुद्धि तथा बाहुबल दोनों अत्यन्त विस्तृत (अतितते) हैं तथा उचित अवसर का अनुसरण करने वाले है वे दोनों विजय सम्पद् को प्राप्त करके शोभित हो रहे हैं।

---

(1) अग्निपुराण 347 / 9

(2) अग्निपुराण 348 / 27

राजन् विभान्ति भवतष्चरितानि तानि।

इन्दोद्यु ति दधाति यानि रसातलेऽन्तः।।

धीदोर्बले अतितते उचितानुवृती।

आतन्वती विजय सम्पद मेत्य भातः।।[1]

एक दूसरा उदाहरण है (पर्तिवरा कन्या के प्रति सखी की उक्ति है) अहो (बत) उन्नत उदयाचल से उदित चन्द्रमा के समान पूर्वोक्त वंश से (ततः) उत्पन्न हुआ, विशाल युक्तामाला में रमणीय कान्तिवाला यह राजा अत्यन्त मनोहर शोभायुक्त तथा अमूल्य (अनर्ध) मुक्तामणि के समान दीप्तमान हैं।

तत उदित उदारहार हारिद्युतिरुच्चैरुदयाचला द्विवेन्दुः।

थ्नजवंष उदात्तकान्त कानितर्बत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्धः।।[2]

'मैं सन्धि नहीं करता' इस प्रकार स्वेच्छा से एक बार भी सन्धि न करना (विश्लेष) दोष है। तथा प्रगृह्य (तथा असिद्धि) आदि हेतु से अनेक बार सन्धि न करना ही दोष है।

सन्ध्यभाव या विश्लेष दो प्रकार का होता है– (1) ऐच्छिक (2) आनुशासनिक।

व्याकरण के अनुसार वाक्य में सन्धि करना न करना वक्ता की इच्छा के आधीन है, कहा भी गया है–

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।

नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

आनुनासिक विश्लेष वह है जो व्याकरण (शब्दानुशासन) के नियम में (सन्धि का अभाव) होता है, यह दो प्रकार का है– (1) प्रगृह्य हेतुक (2) असिद्धिहेतुक। इस प्रकार विश्लेष तीन प्रकार हुआ, इनमें से प्रथम अर्थात् ऐच्छिक विश्लेष यदि एक बार भी काव्य में होता तो वह दोष है,

---

(1) काव्यप्रकाश 7/211

(2) काव्यप्रकाश 7/212

एक बार भी काव्य में होता है तो वह दोष है, क्योंकि उससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है तथा सहृदय जन उदिग्न हो जाते हैं। शेष दोनों यदि अनेक बार (असकृत्) आ जाते हैं, तभी बन्ध शैथिल्य उत्पन्न करने के कारण दोष कहलाते हैं।

राजन् विभाति इत्यादि पद्य के पूर्वार्द्ध में 'तानि इन्दोः' इस स्थल पर (एक बार) ऐच्छिक विश्लेष हैं, अतः विसन्धि नाम वाक्यदोष है।

इसके उत्तरार्द्ध में **'धीदोर्बले अतितते, अतितते उचितानुवृत्ती तथा उचितानुवृत्ती आतन्वती'** इन तीन स्थलों पर 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् 1–1–11 सूत्रानुसार द्विवचनान्त की प्रगृह्य संज्ञा होकर प्लुत प्रगृह्य अचि नित्यम् (6–1–125) से प्रकृति विद्भाव दृ अर्थात् सन्ध्यभाव होता हैं। यह प्रगृह्य हेतुक आनुशासनिक विश्लेष (सन्ध्यभाव) है। इसके अनेक बार (असकृत) होने के कारण यहॉ विसन्धि नामक वाक्य दोष है।

तत् उदित असिद्धिहेतुक आनुशासनिक विश्लेष का उदाहरण है, यहॉ पर तत् उदित ' उदित उदार' तथा निजवंश उदात्त इन स्थलों पर ''**लोपः शकल्यस्य**''।।[1]

पाणिनि सूत्र के द्वारा विहित (विसर्ग) ''**लोप आदगुणः**''।।[2] से होने वाले गुण के प्रति ''**पूर्वत्रासिद्धम्**''।।[3] के अनुसार असिद्ध है। इसलिए असिद्धिहेतुक आनुशासनिक विश्लेष से होने वाला विसन्धि नामक वाक्य दोष है।

---

(1) पाणिनि सूत्र 8/3/9

(2) लघुसिद्धान्त कौमुदी 8/1/87

(3) लघुसिद्धान्त कौमुदी 8/2/1

अध्याय

षष्ठम्

(उपसंहार)

अग्निपुराण में काव्यशास्त्र का महत्व

अग्निपुराण भारतीय विद्याओं का कोश है। वरदाचार्य ने इसे विश्वकोश के रूप में मान्य किया है। इस पुराण में विविध विद्याओं के विवेचन के साथ काव्यालंङ्कार एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस पुराण के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों की महत्वपूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है, जिसे काव्यशास्त्र के आदि स्रोत के रूप में मान्य किया जा सकता है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय परम्परा में अग्निपुराण की यह देन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों में काव्यालंङ्कार का महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है, इसे ही काव्यालंङ्कार शास्त्र का आदि स्रोत माना गया है। महेश्वर ने काव्यप्रकाशदर्श की टीका में प्रतिपादित किया है, कि भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु काव्य प्रवृत्ति के द्वारा अलंङ्कार शास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए अग्निपुराण से उद्धृत कर अलंङ्कारशास्त्र का प्रणयन किया। इसी परम्परा के अनुयायी विद्यभूषण ने भी मान्य किया है, कि भरत ने वह्पुराण में दृष्ट साहित्य प्रक्रिया को संक्षेप में कारिकाओं से निबद्ध किया। इसी परम्परा के पोषक सिल्वा लेवी ने भी यही प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ अग्निपुराण से ली गयी हैं। ये उद्धरण इसी बात को द्योतित करते हैं कि काव्यालंङ्कार शास्त्र का आदिस्रोत अग्निपुराण ही है। इसी प्रकार भामह, दण्डी, आनन्द, भोज आदि के उद्धरणों से भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है कि अग्निपुराण काव्यालंङ्कार शास्त्र का मूलग्रन्थ है। जैसा कि बताया जा चुका है कि अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों में समस्त काव्यालंङ्कार शास्त्रीय तत्वों का महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है।

अट्ठारह पुराणों में अग्निपुराण का अपना विशिष्ट महत्व है। इस पुराण में विविध विधाओं का संकलन किया गया है। धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित

अनेक तथ्यों का विवेचन करने के साथ ही अग्निपुराण में अनेक शास्त्रों का विवेचन भी है।

उदाहरणार्थ, इस पुराण में व्याकरण, औषधि, विज्ञान, कोष, काव्यशास्त्र, ज्योतिष आदि शास्त्रों के सम्बन्ध में पुष्कल सामग्री दी गयी है। भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचकों ने अग्निपुराण की सामग्री को बहुत महत्वपूर्ण माना है और इसको विश्वकोष के रूप में स्वीकार किया है। डा0 बलदेव उपाध्याय असैर विन्टरनिट्ज के अनुसार यह पुराण एक विश्वकोष है। अग्निपुराण में भारतीय साहित्य एवं विज्ञानों के प्रत्येक विषय को सम्मिलित किया गया है। अग्निपुराण के 337 से 347 तक के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र सम्बन्धित सामग्री का संकलन है। इन ग्यारह अध्यायों में 362 श्लोक हैं। अग्निपुराण में प्रथम वांङ्मय स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य, ये चार वाणी के अधिष्ठान हैं। वहॉ पर आक्षेप को ध्वनि कहा गया है और अभिव्यक्ति विशेष ही आक्षेप है। वह आक्षेप वर्ण, पद, वाक्य से भिन्न अनेक वर्ण अनेक पद और अनेक वाक्य के संयोग से अर्थान्तर को ध्वनित करता है, इसलिए उसे ध्वनि कहते हैं। ध्वनि दो प्रकार की होती है– प्रथम केवल ध्वनिरूप वीणा आदि से उत्पन्न निरर्थक ध्वनि और द्वितीय सार्थक वर्णरूप। अकारादि ध्वनि नही वर्ण है। विभक्त्यन्त (सुप् और तिङ् विभक्तियों से युक्त) वर्ण समूह को पद कहते हैं और अभीष्ठ अर्थ का प्रतिपादिन करने वाली पदावली (पदसमूह) को वाक्य कहा जाता है। इस प्रकार ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य ये सब मिलकर वाङ्मय के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। शास्त्र के अन्तर्गत वेदादि आते हैं। शास्त्र में शब्द प्रधान होता है, अतः वेदादि शास्त्र शब्द प्रधान होते हैं। इतिहास के अन्तर्गत रामायण, महाभारत और पुराणादि का समावेश है। इतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है, क्योंकि इतिहास पुरावृत्त का अभिधायक होता है। काव्य अविधा प्रधान होता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्र में शब्द की प्रधानता होती है किन्तु काव्य इन दोनों से भिन्न (विलक्षण) होता है। उसमें शब्द अर्थ और अविधा तीनों का मिश्रण रहता है, किन्तु प्रधानता अविधा की ही होती है। इस प्रकार अविधा

प्रधान वांङ्मय काव्य कहा जाता है। अग्निपुराणकार ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों को उभयालंङ्कार के रूप में परिगणित किया है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्यरूप दोष– रहित, गुण सहित, स्फुरदलंङ्कार युत अभिधेय अर्थ से युक्त वाङ्मय काव्य है।

अग्निपुराण में काव्यशास्त्र के विषय वस्तु को अध्याय क्रम से विभाजित करते हैं–

(1) **अध्याय 337**– इस अध्याय में सबसे पहले काव्य के महत्व, लक्षण और भेदों का वर्णन किया गया है। अग्निपुराण में काव्य के तीन भेद बताए गए हैं– गद्य, पद्य और मिश्र (गद्यं पद्यं मिश्र च काव्यं हि त्रिविधं स्मृतम्) इनमें पाद रहित पद समूह को गद्य कहते हैं, वह गद्य चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि भेद से तीन प्रकार का होता है। अग्निपुराण के अनुसार गद्यकाव्य के पॉच भेद होते हैं– आख्यायिका कथा, खण्डकथा और परिकथा। श्लोक के चतुर्थांश को पाद कहते हैं और चार पाद वाले श्लोक को पद्य कहते हैं। पद्य के दो भेद होते हैं– वृत्त और जाति। अग्निपुराण के अनुसार पद्यकाव्य सात प्रकार का होता है– महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष। मिश्र काव्य में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण होता है, इसलिए इसे मिश्रकाव्य कहते हैं। मिश्र काव्य के दो भेद होते हैं– चम्पू और प्रकीर्णक। इनमें चम्पू श्रव्य होता है और प्रकीर्णक अभिनेय होता है।

(2) **अध्याय 338**– इस अध्याय में नाट्य सम्बन्धी विषयों को बताया गया है। इसमें रूपकों के दस भेदों तथा उपरूपकों का कथन दिया गया है। अग्निपुराण में काव्यालंङ्कार शास्त्र के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया गया है। भरत मुनि के पश्चात् अग्निपुराण में ही नाट्यचर्चा है। अग्निपुराण में नाट्य के सत्ताईस भेदों का निरूपण किया गया है। नाट्यशास्त्र में दशरूपकों का विवेचन है, किन्तु अग्निपुराण में सत्ताईस प्रकार के रूपक गिनाए गए हैं। परिवर्ती आचार्यों ने इनमें से आदि के दस भेदों को रूपक और शेष सत्तरह भेदों को

उपरूपक माना है। विश्वनाथ ने तो अग्निपुराण का ही अनुसरण कर दस रूपक और अट्ठारह उपरूपक माने हैं।

अग्निपुराण में नाट्य लक्षण की द्विधा प्रवृत्ति बतलायी गई है– सामान्य और विशेष। इनमें सामान्य प्रवृत्ति सर्वत्र रहती है और विशेष कहीं–कहीं। अग्निपुराण में नाट्यशास्त्र को धर्म, अर्थ, काम का साधन बताया गया है। अग्निपुराण के अनुसार नाट्य के प्रारम्भ में पूर्वरंङ्ग का विधान करना चाहिए। वहॉ पूर्वरंङ् के बत्तीस अंङ्ग बताए गए हैं। तीन प्रकार के आमुख, नान्दी, दो प्रकार के इतिवृत्त (सिद्ध–प्रख्यात और उत्प्रेक्षित–उत्पाद्य) पॉच अर्थ प्रकृतियॉ, पॉच चेष्टाएँ, पॉच सन्धियॉ और देश काल का संकलन इन बत्तीस अंङ्गों का पूर्वरंङ्ग में निर्वाह करना इतिकर्तव्यता है। इसके बाद अर्थात् पूर्वरंङ्ग के नान्दी प्रभृति बत्तीस अंङ्गों के निर्वहन के पश्चात् अभीष्ठ अर्थ (इतिवृत्त) की योजना वृत्तान्त का अनुपक्षय, प्रयोग में राग की उत्पत्ति गोपनीय का गोपन अलौकिक अर्थ का कथन, इन छः नाटकीय गुणों का उल्लेख होना चाहिए। इन उपर्युक्त गुणों सक रहित काव्य अंङ्गहीन मनुष्य की भॉति श्रेष्ठ नहीं माना जाता। रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अंङ्क आदि की स्थिति यथावसर करनी चाहिए। ये नाटकादि के सामान्य लक्षण हैं।

इस प्रकार अग्निपुराण में सत्ताईस प्रकार के प्रकीर्ण (अभिनेय) काव्य (नाट्यकाव्य) तथा चम्पूकाव्य (मिश्रकाव्य) आख्यायिका आदि पॉच प्रकार के गद्यकाव्य तथा महाकाव्य बताए गए हैं। अग्निपुराण में यथास्थान इनके लक्षण प्रतिपादित किए गए हैं।

(3) **अध्याय 339**– यह अध्याय रस से सम्बन्धित है। इसमें रस स्थायी भाव, संचारी भाव, आलम्बन आदि का वर्णन किया गया है। अग्निपुराण में रस के विषय में स्वतंत्र मौलिक विचार धारा प्रतिपादित है। अग्निपुराणकार ने दार्शनिक धरातल पर रस का चिन्तन कर एक नई दिशा प्रस्तुत की है जो परिवर्ती रस विवेचन का आधार है, अग्निपुराण के अनुसार अक्षर, अज, सनातन, अद्वितीय,

चैतन्यरूप ज्योर्तिमय परब्रह्म की सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति रस है। वेदान्त में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है। इसे सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति को चमत्कार या रस कहते हैं। चैतन्य रूप पर ब्रह्म का गुणत्रय रूप प्रथम विकार महतत्व (महान) है। महतत्व से ही अहंङ्कार या अभिमान की अनुभूति होती है। महतत्व के समान ही यह अहंङ्कार या अभिमान भी त्रिगुणात्मक है। जब रजस् और तमस् के संस्पर्श से रहित सत्व का उद्रेक होता है तब सहृदयों के द्वारा रस की अनुभूति होती है। यह अनुभूति आस्वाद है, यही और यही चैतन्य है यही चमत्कार है।

इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार पर ब्रह्म चैतन्य की आनन्दरूप अभिव्यक्ति ही रस है। उसके श्रंङ्गारादि अनेक भेद होते हैं। अग्निपुराण में श्रंङ्ार का व्यापक अर्थ लिया गया है और उसे रस का पर्याय माना गया है इस अहंङ्कार रूप श्रङ्गार से काम– श्रङ्गार, हास्य आदि अनेक रस उत्पन्न होते हैं। अग्निपुराण के अनुसार लोक में देवता और मनुष्यों के अभिमान (अहंङ्कार) से जो रति उत्पन्न होती है वह रजो गुण से उत्पन्न अनुराग से परिपुष्ट होकर श्रङ्गार रस कहलाती है। वही रति जब तमोगुण से उत्पन्न उग्रता से परिपुष्ट होती है तो रौद्र रस होता है। वही रति जब रजस् और तमस् दोनों गुणों के उद्रेक से सम्पन्न होता है तो सम्पन्न उत्साह से वीर रस उत्पन्न होता है, वह रति जब सत्व और तमस् के उद्रेक से उत्पन्न संकोच से परिपोषित होती है तो वीभत्स रस कहलाता है। इस प्रकार अग्निपुराण का रस विवेचन सर्वथा विलक्षण है किसी भी आचार्य ने इस प्रकार रस का निरूपण नहीं किया है इस प्रकार अग्निपुराण का अनुसरण कर रस का विवेचन किया है। अग्निपुराण के अनुसार रस आठ होते हैं। अग्निपुराणकार ने शान्त रस को भी स्वीकार किया है।

रस के भेद– अग्निपुराण में श्रृंङ्गार रस के दो भेद माने गए हैं– सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोग और विप्रलम्भ भी दो प्रकार के होते हैं। विप्रलम्भ श्रृंङ्गार के पुनः चार भेद बताए गए हैं– पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।

इसक अतिरिक्त अभिनय की दृष्टि से श्रृंङ्गार के दो अन्य भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

हास्य छः प्रकार के होते हैं– स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। अभिनय की दृष्टि से हास्य के भी दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

अग्निपुराण के करुण के तीन भेद होते हैं– धर्मोपघातजन्य, वित्तनाशजन्य और शोकजन्य। अभिनय की दृष्टि से करुण के भी दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

रौद्र रस के तीन प्रकार होते हैं– आंङ्गिक, वाचिक और नेपथ्यज।

वीर रस भी तीन प्रकार के होते हैं– दानवीर, धर्मवीर और युद्धवार। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

भयानक रस तीन प्रकार का होता है– कृत्रिम, अपराधजन्य और वित्रासिक। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

अग्निपुराण में वीभत्स के दो भेद होते हैं– उद्धेजन और क्षोभण। नाट्यशास्त्र में वीभत्स का शुद्ध नामक तीसरा भेद भी माना गया है। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

अग्निपुराण ने चमत्कारातिशय को अद्भुत रस कहा है। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं– वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

शान्त रस नाट्य में स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु नाटक प्रकरण में निर्दिष्ट होने के कारण कर्म में उनका निरूपण किया गया है। जब विवके, वैराग्य आदि के कारण कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, तब शान्त रस होता है। शान्त रस का स्थायी भाव शम है।

अग्निपुराणकार का कथन है कि इस अपार काव्य जगत् का सर्जक कवि है उसे जैसा रुचता है वैसी सृष्टि (रचना) कर डालता है। यदि वह सहृदय है तो सरस काव्य रचना भी नीरस होगी। अग्निपुराणकार ने रस को भावाश्रित और

भाव को रसाश्रित कहा है। भावहीन रस और रसहीन भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। भाव और रस एक दूसरे के उपकारक हैं। रसों को भावित करने के कारण को भाव कहते हैं। अग्निपुराण में आठ स्थायी भाव, आठ सात्विक भाव और तेतीस व्यभिचारी भाव प्रतिपादित हैं। ये स्थायीभाव जहॉ पर और जिसके द्वारा विभाजित होते हैं उसे विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं– आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव के उद्‌बुद्ध एवं परिष्कृत भावों के द्वारा मन, वाणी, बुद्धि एवं शरीर के स्मृति इच्छा, द्वेष और यत्न से जो आरम्भ किया जाता है उसे अनुभाव कहते हैं। इस अध्याय में नायक एवं नायिका के भेदों तथा उनके गुणों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार हैं– इसमें मानसिक व्यापार के आधिक्य को मन आरम्भ कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– पौरुष और स्त्रैण। इसमें पुरुषगत (पौरुष) मनोभाव शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित औदार्य और तेज आठ प्रकार के होते हैं। हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ, औदार्य, स्थैर्य और गाम्भीर्य ये बारह स्त्रीगत (स्त्रैण) मनोभाव हैं। वाणी का कथन वागारम्भ व्यापार है। यह बारह प्रकार का होता है– आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अपदेश, उपदेश और व्यपदेश। बुद्धि के द्वारा उपदिष्ट व्यापार बुद्धयारम्भ है। शरीर के अंङ्ग प्रत्यंङ्गों द्वारा किया गया आरम्भ (चेष्टा) शरीराम्भ है। ये बारह हैं– लीला, विलास, विच्छिन्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि। अग्निपुराण में इन चारों व्यापारों का सम्बन्ध चार अभिनयों से जोड़ा गया है। इसमें अंङ्ग प्रत्यंङ्गों द्वारा चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाता है। अंङ्ग प्रत्यंङ्गों की विशेष चेष्टाऍ शरीरारम्भ अनुभाव है। इस प्रकार अग्निपुराण का यह रसभावादि चिंतन सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक है।

(4) **अध्याय 340**– यह अध्याय रीतियों और वृत्तियों से सम्बन्धित है। इसमें पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी रीतियों की विवेचना की गयी है। अग्निपुराण में बुद्धयारम्भ

(बुद्धि के व्यापार) के तीन भेद निर्दिष्ट हैं– रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। यहॉ वक्तृत्वकला की शैली को रीति नाम से अभिहित किया गया है और उसके चार भेद प्रतिपादित किए गए हैं– वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी और लाटी। वहॉ पर इनका अलग–अलग स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। रीति के पश्चात् भारती, आरभटी, कौशिकी और सात्वती, इन चार वृत्तियों का निरूपण किया गया है। अग्निपुराण के अनुसार रस एवं भावों की अनुभाविका क्रिया को वृत्ति कहते हैं। भरत कायिक, वाचिक, मानसिक, व्यापार को वृत्ति कहते हैं। इसी को आनन्द, व्यवहार और अभिनव नायक का चेष्टाव्यापार माना गया है। धनंजय नायकादि व्यापार को तथा भोज एवं राजशेखर चेष्टा विन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं। अग्निपुराण के अनुसार भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारती वृत्ति, आरभट के द्वारा की गयी क्रिया आरभटी, कुशिक राजा के द्वारा प्रकाशित होने से कौशिकी और सात्वत राजा के द्वारा प्रकाशित होने से सात्वती वृत्ति कहलाती है। यह अग्निपुराण की मौलिक कल्पना है। अग्निपुराण में इनके अनेक भेदों का वर्णन है।

(5) **अध्याय 341**– इस अध्याय में नायिकाओं की चेष्टाओं तथा उनके हाव भावों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर नृत्यकला में प्रयुक्त होने वाले अंड्गों हाथ, पैर, ऑख, पलक आदि के संचालन की विधि बताई गई है। अग्निपुराण के अनुसार जिसके द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों (अर्थात् रस के निष्पादक रत्यादि भावों) को सामाजिकों के समक्ष ले जाकर रसास्वादन कराया जाता है, उसे अभिनय कहते हैं। यह अभिनय चार प्रकार का होता है– आंड्गिक, वाचिक सात्विक और आहार्य। अंड्ग प्रत्यंड्ग एवं उपांड्गों द्वारा किया जाने वाला अभिनय आंड्गिक अभिनय कहलाता है। अग्निपुराण के अनुसार शिरोऽभिनय के तेरह भेद होते हैं– आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवहित, आधूत, अवधूत, आचित, (अंचित) निकुंचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित।

हस्ताभिनय दो प्रकार का होता है– असंयुत हस्त और संयुत हस्त। इनमें असंयुत हस्त के चौबीस भेद होते हैं। रस् के पॉच भेदों का वर्णन किया गया है। उदर के तीन भेद बताए गए हैं तथा जंङ्घाओं के कर्म भी पॉच प्रकार के होते हैं। अग्निपुराण में भ्रकुटि के सात भेदों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार सभी आंङ्गिक अभिनय का विवेचन किया गया है। स्तम्भादि सात्विक भावों का प्रदर्शन सात्विक अभिनय कहलाता है। इसके अन्तर्गत नायक नायिकाओं के श्रृंङ्गार सम्बन्धी हाव भावादि का निरूपण होता है। वाणी के द्वारा किया गया वाचिक कहलाता है। इस प्रकार वर्णन से समाजिकों के हृदय में रस का संचार किया जाता है।

(6) **अध्याय 342**– इस अध्याय में बताया गया है कि अभिनय के चार अंङ्ग हैं– सात्विक, वाचिक, आंङ्गिक और आहार्य। इसके पश्चात् श्रृंङ्गार आदि रसों के लक्षण और भेदों का निर्देश किया गया है। अग्निपुराण के अनुसार नायक के चार प्रकार होते हैं– धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर प्रशान्त। प्रत्येक के अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ ये चार भेद होते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार नायक सोलह प्रकार के होते हैं।

नायक के सहायक– पीठमर्द नायक का कुशल सहायक होता है। विदूषक हास्यकारी अर्थात् हॅसाने वाला नायक का मित्र होता है। विट्, श्रीमान् और तद्देशज सहायक होते हैं।

नयिका के भेद– अग्नि के अनुसार नायिका के तीन भेद होते हैं– स्वकीया, परकीया और पुनर्भू। कुछ विद्वान पुनर्भू नायिका नहीं मानते हैं। उसके स्थान पर सामान्या नायिका मानते हैं। इस प्रकार उनके मतानुसार नायिका स्वकीया, परकीया, पुनर्भू और सामान्या। इन चार प्रकार की नायिकाओं को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार अवस्था भेद– बाला, मुग्धा, अकुरित, यौवना, प्रौढ़ा, तरुणी और वृद्धा, ये छः प्रकार की नायिकाएॅ होती हैं।

ये नायक नायिका आदि आलम्बन विभाव के अन्तर्गत परिगणित किए जाते हैं। ये रसानुभूति में सहायक होते हैं। तदनन्तर अलंङ्कार का लक्षण, उसके भेद एवं कुछ शब्दालंङ्कार निरूपित हैं।

(7) **अध्याय 343**– इस अध्याय में शब्दालंङ्कार निरूपित है। इस प्रसंङ्ग में इन अलंङ्कारों का निरूपण है– अनुप्रास, यमक और उसके दस भेद, चित्रकाव्य और उसके सात भेद, प्रहेलिका और उसके सोलह भेद, गोमूत्रिका बन्ध, सर्वतोभद्रबन्ध आदि अलंङ्कार का वर्णन किया गया है।

(8) **अध्याय 344**– इस अध्याय का विषय अर्थालंङ्कार है। इसमें उपमा रूपक, सहोक्ति अर्थान्तरन्यास आदि अलंङ्कार और भेद बताए गए हैं।

(9) **अध्याय 345**– इस अध्याय का मुख्य विषय शब्दार्थालंङ्कार है। ये अलंङ्कार छः प्रकार के होते हैं– प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति। इन अलंङ्कारों का निरूपण करके समाधि, आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त अलंङ्कारों में हो जाता है।

(10) **अध्याय 346**– यह अध्याय गुणों के विवेचन से सम्बन्धित है। इसमे गुण की परिभाषा, महत्व तथा भेदों का विवेचन किया गया है। इसमें सात शब्दगुण, छः अर्थगुण और छः शब्दार्थ गुण बताये गए हैं।

(11) **अध्याय 347**– यह अध्याय मुख्य रूप से दोषों की विवेचना करता है। सर्वप्रथम सात मुख्य दोष बताकर पुनः उनके भेद कहे गए हैं। दोषों के परिहार का उपाय भी बताया गया है।

भारतीय परम्पराओं के अनुसार भारतीय काव्यशास्त्र का मूल स्रोत अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग है। भरत ने इस ग्रन्थ से सामग्री लेकर काव्यशास्त्र के नियमों का प्रतिपादन किया था। इनके अनुसार अग्निपुराण ही भारतीय काव्यशास्त्र का मूल है।

अनेक अलंङ्कारों– रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, विभावना आदि का लक्षण करने, पद्य की परिभाषा करने आदि में भामह के ''काव्यालंङ्कार'' और दण्डी के ''काव्यादर्श'' का अग्निपुराण पर प्रभाव पड़ा है। भोज के रस सिद्धान्त का भी अग्निपुराण पर प्रभाव है। इसमें ध्वनि का भी उल्लेख है।

अग्निपुराण में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नवीन ढ़ंग से किया गया है। इसमें कुछ ऐसे तथ्य भी हैं जो दूसरे ग्रन्थों में नहीं हैं। गुणों और दोषों का वर्गीकरण एवं विवेचन इस पुराण में दूसरे प्रकार से किया गया है।

काव्यगुण के दो भेद हैं– सामान्य और विशेष। सर्वप्रकार की रचना में प्राप्यगुण को सामान्य गुण कहते हैं। सामान्य गुण के तीन भेद होते हैं– शब्दगुण, अर्थगुण तथा शब्दार्थगुण। जो काव्य के शरीर रूप शब्द के आश्रित रहता है उसे शब्द गुण कहते हैं। शब्दगुण के सात भेद है– श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, गाम्भार्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य और यौगिकी। शब्दों के सघन गुम्फन का नाम श्लेष है। व्याकरण सम्बन्धी गुण आदेशादि के द्वारा पद में सम्बद्ध अक्षरों में सन्धि नहीं की जाती है, वह लालित्य गुण माना गया है। गाम्भीर्य गुण उसे कहते हैं जिसमें शब्द तो उत्तान सुगम हो, पर वर्ण्य विषम चिह्न से समन्वित हो। सुकोमल वर्ण योजना से युक्त शब्दावली में सुकुमार गुण माना गया है। श्लाघ्य विशेषणों से समन्वित ओज संयुक्त पदों के प्रयोग में औदार्य गुण रहता है। किसी भी प्रकार से प्रस्तुत किए गए विषय में यदि उत्कर्ष का निर्वाह किया हो तो ऐसे स्थल पर अर्थ गुण रहता है।

अर्थ गुण के छः भेद हैं– माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि तथा सामायिकत्व। क्रोध आदि ईर्ष्या भावों की अवस्था के समान गम्भीरता का जहॉ अभाव हो और धैर्य का समावेश हो वहॉ माधुर्य गुण होता है। इष्टध्येय का सिद्धि के लिए जहॉ अमानवीय शक्ति का प्रयोग हो ऐसे सन्दर्भ में संविधान गुण होता है। जो सन्दर्भ क्लिष्टता आदि से रहित होता है, जहॉ प्रयास पूर्वक शब्द नियोजन का त्याग किया जाता है और मृदुता का समावेश रहता है, वहॉ कोमलता गुण होता है। जिस रचना में प्रमुख रूप से स्थूल लक्ष्य को ही प्रकट

करने की प्रवृत्ति रहती है और मूल वस्तु के आशय का सौष्ठव स्पष्ट रहता है, वहॉ उदारता गुण होता है। जहॉ स्वतंत्र रूप से अथवा परतंत्र रूप से अर्थों की वाह्य और आन्तरिक योग से व्युत्पत्ति दिखायी जाती है, वहॉ सामायिकता गुण होता है। जहॉ पर अभीष्ट अर्थ की बिधा तक तत्व के लिए प्रौढ़ तथा गुण न्यायोचित युक्तियों का प्रयोग हो वहॉ प्रौढ़ि गुण होता है।

विभिन्न पुराणों में इसकी श्लोक संख्या 15400 दी गई है। किन्तु वर्तमान में इसमें लगभग 11500 श्लोक मिलते हैं। इसमें अग्निदेव वशिष्ठ ऋषि को उपदेश देते है। अग्निपुराण को भारतीय संस्कृति का विश्वकोश भी कहा गया है। इसमें अनेक विद्याओं, कलाओं और शास्त्रों का निचोड़ पुराणकार ने प्रस्तुत किया है। इस पुराण में विभिन्न देवों की प्रतिमाएँ बनाने की विधि का बहुत उपदेय निरूपण है। रामोपाख्यान और महाभारतोपाख्यान में रामायण तथा महाभारत इन दोनों ग्रन्थों का सार प्रमाणिक रूप में दिया गया है। शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इस पुराण में काव्यशास्त्र, नाट्शास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, भूगोल, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतशास्त्र, कर्मकाण्ड, विभिन्न संस्कार वास्तु शकुन आदि का क्रमबद्ध और व्यवस्थित प्रतिपादन है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१	काव्यप्रकाश	आचार्य ममम्ट टीका आचार्य विश्वेश्वर
२	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
३	मत्स्यपुराण	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
४	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
५	चन्द्रालोक	जयदेव
६	कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित
७	दशरूपक	धनन्जय
८	वक्रोक्तिजीवितम्	कुन्तक
९	काव्यालंकार सूत्र	वामन
१०	संस्कृत साहित्य का इतिहास	वलदेव उपाध्याय
११	काव्यमीमांसा	राजशेखर
१२	विष्णुपुराण	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
१३	संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास	
१४	संस्कृत शास्त्रों का इतिहास	वलदेव उपाध्याय
१५	अमरकोष रामाश्रयी टीका	
१६	शब्दकल्पद्रुम	सम्पादक राजा राधाकान्त दवे
१७	संस्कृत हिन्दी कोष	सम्पादक रामस्वरूप
१८	पौराणिक कोष	राणा प्रसाद शर्मा
१९	वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी	वाल मनोरम टीका
२०	पातांजल महाभाष्य	नागेश भट्ट
२१	पुराण विमर्श	वलदेव उपाध्याय
२२	संस्कृत आलोचना	वलदेव उपाध्याय
२३	पुराण दिग्दर्शन	माधवाचार्य शास्त्री
२४	पुराण परिशीलन	गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
२५	पुराण पारिजात	गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
२६	लघुसिद्धान्त कौमुदी	धरानन्द शास्त्री
२७	वाल्मीकि रामायण	गीताप्रेस गोरखपुर
२८	महाभारत	गीताप्रेस गोरखपुर
२९	संस्कृत साहित्य का इतिहास	डा० कपिलदेव द्विवेदी
३०	संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास	राधावल्लभ त्रिपाठी
३१	औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
३२	काव्यमीमांसा	

!! समाप्त !!